

विनोबा

सर्व सेवा संघ प्रकाशन

साम्य-सूत्र

●

विनोबा



●

सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन
राजघाट, वाराणसी

प्रकाशक
सर्व-सेवा-संघ-प्रकाशन,
राजघाट,
वाराणसी-२२१००१

संस्करण : पांचवां
प्रतियाँ : २,०००
कुल प्रतियाँ : १३,०००

दिसम्बर, १९९१

मूल्य : छह रुपये

मुद्रक
न्यू दीपक प्रेस
ए० १३/४३ राजघाट,
वाराणसी-२२१००१

दो शब्द

आश्रम-पाठ में 'साम्यसूत्राणि' नामक एक नयी कृति जोड़ दी गयी है। गीता को मैंने 'साम्ययोग' नाम दिया है। गीता का साम्ययोगपरक विवरण 'गीता-प्रवचन' में लौकिक शैली में प्रस्तुत किया गया है। बहुत दिनों से सोचता था कि उसे संस्कृत-सूत्रों के रूप में गूँथा जा सके, तो गूँथें। उड़ीसा में, कोरापुट जिले के घने जंगल में भूदान-यात्रा महीनों तक चली। उस समय इन सूत्रों को गूँथने (रचने) की प्रवृत्ति हुई। गीता-प्रवचन में ऐसे ही सूत्र मराठी में दिये गये हैं। किन्तु ये संस्कृत-सूत्र अधिक व्यापक अर्थ का समावेश करनेवाले बनाये हैं। मुझे ये चिंतन में उपयोगी पड़ते हैं। बीच-बीच में चित्त में एक सरीखा उनका मंथन चलता रहता है। वेद, उपनिषद् आदि के सूचक शब्दों से वे उपस्कृत हैं। साम्ययोग का दर्शन कोरापुट के ग्रामदान में प्रकट हुआ। उसकी प्रेरणा इनमें अंकित हो उठी है। इनके चिन्तन से सेवकों और साधकों के हृदय में साम्ययोग स्फुरित हो, यही अभिलाषा है।

विनोबा

अनुक्रम

साम्य-सूत्र

सूत्र की परिभाषा

सूत्र वे हैं, जो सूचक होते हैं। 'सूचनात् सूत्रम्' जो सूचन करता है, वह सूत्र है। जो आपको सुझाता है, वह सूत्र है। आपको थोड़ा-सा सुझा दिया, तो फिर आप ज्यादा सोच सकते हैं, उस पर कुछ और प्रकाश डाल सकते हैं। ऐसे वचनों को 'सूत्र' कहते हैं।

यह हमारी पुरानी प्रथा है कि चंद सूत्रों में कोई चीज रख दी जाय, ताकि अध्ययन करनेवालों को गहरा खजाना उपलब्ध हो और सतत चिंतन करने के लिए कोई चीज रह जाय, तो कण्ठस्थ करने में भी आसान हो।

'गीता प्रवचन' के विषय ही 'साम्ययोग-सूत्र' में संस्कृत में रखे गये हैं, किन्तु उन सूत्रों की रचना ऐसी नहीं की गयी है कि गीता-प्रवचन में जो भाष्य है, उनमें ही उसका अर्थ सीमित रह जाय। बल्कि, वह रचना अत्यन्त योगपूर्वक की गयी है। योग-सूत्रों की तरह ही ये सूत्र हैं। इनकी कुल संख्या १०८ है।

हम बचपन से गीता को जीवन-ग्रन्थ के तौर पर मानते आ रहे हैं। हमने अनेक भाषा के अनेक ग्रन्थों का अध्ययन किया, लेकिन उन सब-में गीता हमारे हृदय में प्रधान रही। गीता हमारे लिए एक परिपूर्ण-सा ग्रन्थ हो गया है। उस ग्रन्थ के आधार पर, किन्तु चिन्तन के लिए

बिलकुल स्वतन्त्र; ऐसा यह 'साम्य-सूत्र' है। जैसे पक्षी अपने पंखों से चारों दिशाओं में उड़ान भरता है, वैसे ही हम उसके आधार पर चारों दिशाओं में घूम सकेंगे।

पक्षी की दो उपमाएं

मैंने पक्षी की उपमा इसलिए दी कि कवियों के लिए वह एक विशेष उपमान रहा है। वर्ड्सवर्थ ने ज्ञानी पुरुष के वर्णन में एक कविता लिखी है। उसके सामने समाज-सेवा-परायण ज्ञानी है, जो भक्त है। वे सिर्फ बौद्धिक ज्ञानी ही नहीं हैं। बौद्धिक ज्ञान का जिनके जीवन में साक्षात् दर्शन होता है, वे ही भक्त कहलाते हैं। वर्ड्सवर्थ ने चंडूल (Skylark) पक्षी के लिए कहा है :

A type of the wise that soars but never roams true to the kindred point of Heaven and Home. वह एक ज्ञानी पुरुष की मूर्ति है। चंडूल खूब भटकता है, परन्तु भटकते हुए भी वह स्वर्ग की ओर दृष्टि रखता है और अपने घोंसले की तरफ भी बराबर नजर रखता है। वह केवल स्वर्ग की ओर ही ध्यान रखता और घर की ओर ध्यान न रखता, तो वह भटकता है, ऐसा कहा जाता। और यदि वह सिर्फ घर की ओर ही नजर रखता, स्वर्ग की ओर नजर न रखता, तो वह घर में ही रहता। परन्तु वह घोंसला और आसमान दोनों ओर ध्यान रखता है। इसलिए उसका वह भटकना 'विहार' कहा जाता है। ऐसी क्या चीज है, जो उसे भटकने नहीं देती ? वह चीज 'घर' है। उसमें आकर्षण भरा है। वहां बच्चे हैं।

नामदेव ने लिखा है :

'उडाली पक्षीणी गेली अंतराळी, चित्त बाळाजवळीं ठेवूनियां।'

मादा पक्षी आसमान में उड़ रहा है, परन्तु उसका चित्त बालक के

पास ही रखा हुआ है। वर्ड्सवर्थ के उपमेय को नामदेव ने बिलकुल उलटा दिया है। वर्ड्सवर्थ के पक्षी के लिए स्वर्ग में परमेश्वर है और घोंसले में परिवार। एक ओर जनसमाज की सेवा का आकर्षण है, तो दूसरी ओर ईश्वर-दर्शन की तृष्णा। स्वर्ग ऊपर है, इसलिए ऊपर उठना है। घर नीचे है, इसलिए नीचे आना है। इस तरह दोनों की निष्ठा रखना बुद्धिमान् लोगों का लक्षण है।

नामदेव की उपमा अधिक प्रिय

गीता में बुद्धिमान् लोगों का लक्षण बताया है: 'स बुद्धिमान् मनुष्येषु' परन्तु नामदेव ने उपमा को उलटाकर कहा कि जैसे स्वैर विहार में पक्षी अपने बालक की ओर चित्त रखता है, वैसे ही संसाररूपी आसमान में इधर-उधर भटकते रहने पर भी हमारा चित्त तो अपने मूलधाम में ही, जहाँ तुम बालकवत् सो रहे हो, लगा रहेगा। जहाँ वर्ड्सवर्थ का भगवान् आसमान में और समाज, संसार घोंसले में है, वहीं नामदेव का भगवान घर में है। नामदेव की उपमा में पक्षी चारों ओर आसमान में उड़ तो रहा है, लेकिन चित्त एक ही जगह, भगवान् में ही है। इसके लिए उत्तम उपमा पतंग की है। पतंग के एक छोर पर लम्बी रस्सी बँधी रहती है। वहाँ से हाथ उसे पकड़े रहता है। वह एक केन्द्र में केन्द्रित रहकर चारों ओर विहार करने के लिए मुक्त है। सिर्फ रस्सी की पकड़ हाथ में रहेगी, जो पतंग को केन्द्र में बाँधे रहेगी। स्थितप्रज्ञ पुरुष की जीवन-चर्या भी ऐसी ही होती है। उसका सारा ध्यान एक केन्द्र में केन्द्रित रहता है और फिर वह चारों ओर घूमता है। मुझे नामदेव की उपमा ज्यादा पसन्द है। ऋग्वेद में उपमा दी है:

'पृश्नाः पतरं चितयन्त मक्षभिः।
पाथो न पायुं जनसी उभे अनु॥'

पतर याने पक्षी या परिन्दा-मेघमाला में विहार करनेवाला पक्षी-स्वर्ग और पृथ्वी दोनों लोकों की तरफ ध्यान देता है। क्योंकि पृथ्वी में परिवार है और स्वर्ग में परमात्मा। उसकी वृत्ति पुल जैसी रहती है। पुल दोनों तीरों से चिपका रहता है। कुछ ज्ञानी ऐसे होते हैं, जो एक ही तीर पर रहते हैं, बिलकुल अनासक्त, संसारास्पृष्ट। लेकिन पुल का एक पाँव एक ओर होना चाहिए और दूसरा पाँव दूसरी ओर।

साम्य-सूत्रों की रचना

मैं कहना यह चाहता था कि ऐसे सूत्र लिखने का, अपना जीवन-आदर्श सूत्रों में रखने का, विचार लम्बे समय से था। मैं ऐसे सूत्र लिखना चाहता था, जिनसे विहार तो चारों ओर कर सकें, फिर भी केन्द्र में ही रहें। उनमें कुछ ग्रन्थन व्यवस्था भी हो, फिर भी वह ऐसी हो कि हम स्वैर विहार भी कर सकें। ऐसा एकान्त मुझे कोरापुट में मिल गया। वहाँ के जंगलों में हमें बहुत ही एकान्त और रमणीय सृष्टि का स्पर्श मिलता रहा। इन सूत्रों का परिष्कार करने में दो-एक महीने लग गये होंगे।

इन सूत्रों में जो शब्द हैं, वे अनेक शास्त्रों से इकट्ठे किये गये हैं। कुछ वेदों से, कुछ भगवद्गीता से, कुछ ब्रह्मसूत्रों से, कुछ विभिन्न संत-ग्रन्थों से, कुछ मनुस्मृति से, तो कुछ भागवत से। इस तरह जगह-जगह से चुन-चुनकर शब्द लिये गये हैं। उनमें से शायद ही ऐसा कोई शब्द होगा, जो किसी ग्रन्थ में से न चुना हो। हाँ, 'आत्मशक्तेर्भानात्', 'ततः शासनमुक्तिः', ऐसे सूत्रों में हमारे विचार के कुछ नये शब्द भी हैं। बाकी कुल-के-कुल शब्द शास्त्रों में से चुने हैं। इसलिए इन सूत्रों पर आप जितनी गहराई से सोचेंगे, उतना ही गहरा अर्थ प्राप्त कर सकेंगे। ●

साम्य-सूत्र का विषय--परम साम्य : १ :

अभिधेयं परम साम्यम् (सूत्र १)

हमारा प्रथम सूत्र है 'अभिधेयं परम साम्यम्'। हमारा अभिधेय क्या है ? आज की भाषा में कहें, तो हमारे चिंतन का विषय क्या है ? हमने कहा कि इस काम में हमें चिंतन-सर्वस्व लगाना है। उसे हम ध्येय का लक्ष्य भी कह सकते हैं। ध्येय याने ध्यान का विषय। 'ध्येय' दूर का विषय होता है, तो 'लक्ष्य' नजदीक है, प्रत्यक्ष या सामने है। अभिधेय इन दोनों से भिन्न है। वह कुल जीवन के चिंतन का विषय है। सिर्फ ध्यान और दृष्टि का नहीं, बल्कि कृति, उक्ति, सबका जो विषय है, वही अभिधेय है। अर्थात् जिस दिशा में जीवन के समूचे चिंतन को ले जाना है, इन्द्रियों को मोड़ना है, लक्ष्य करना है, उसीको 'परम साम्य' कहते हैं।

साम्ययोग--जीवन का सारसर्वस्व

हमने गीता को 'साम्ययोग' नाम दे रखा है। आज तक उसे विविध नाम दिये गये हैं। लोकमान्य तिलक ने उसे 'कर्मयोग' नाम दिया, तो किसीने 'ज्ञानयोग' या 'भक्तियोग' कह दिया। गांधीजी ने उसे 'अनासक्तियोग' कहा है। गीता एक ही ग्रंथ है। लेकिन अपनी-अपनी रुचि और दृष्टि के अनुसार उसे अलग-अलग नाम दिये हैं। उसके अध्ययन में तरह-तरह के दर्शन और अनुभव आये, तो नाम भी विविध दिये गये। हमने उन नामों को इतना पसन्द नहीं किया, जितना कि 'साम्ययोग' नाम को। सम्भव है, यह नाम पसन्द करने में जमाने का

या जो काम उठा लिया है, उसका, कुछ असर हो; पर बहुत अधिक सम्भव तो यही है कि जीवन का रहस्य साम्ययोग है। और चीजों में इतना रहस्य नहीं है। ज्ञान, कर्म, भक्ति, अनासक्ति आदि व्यावर्तक चीजें हैं। ये बचानेवाली चीजें हैं। उनकी भी जरूरत है। वे बचानेवाली जरूर हैं, पर शायद विषय को बतानेवाली नहीं। इसीलिए हमने इसे 'साम्ययोग' ही नाम दिया। हमारी दृष्टि 'साम्ययोग' नाम पर ही स्थिर हुई, क्योंकि जीवन का वही सार-सर्वस्व है।

परम साम्य की व्याख्या

'परम साम्य' में 'परम' शब्द महत्त्व का है। जहाँ उसे परम साम्य का रूप देते हैं, वहाँ वह केवल आर्थिक या सामाजिक वस्तु नहीं रहती। आर्थिक और सामाजिक साम्य भी चाहिए। परन्तु इन दोनों से बढ़कर एक साम्य है—मन का सन्तुलन या मानसिक साम्य। लेकिन इन तीनों से भी परे कोई एक चीज है, जो 'परम साम्य' कहलाती है। एक है—आर्थिक साम्य, जो हरएक व्यवहार में मददगार होता है। दूसरा है—सामाजिक साम्य, जिसके आधार पर समाज में व्यवस्था रहती है। तीसरा है—मानसिक साम्य, जिससे मनुष्य के मन का नियंत्रण होता है, जो कि बहुत जरूरी है। नहीं तो, भूला-भटका मनुष्य सुख की चाह में इधर-उधर घूमता रहेगा, लेकिन पायेगा दुःख ही। इसके लिए मनोयोग बहुत जरूरी है।

शुकदेव ने भागवत में कहा है :

'परो हि योगो मनसः समाधिः'
'सर्वे हि योगा मनोनिग्रहांताः'

याने सबसे श्रेष्ठ यदि कोई योग है, तो वह मन का समाधान है। जितने योग हैं, सबके मूल में कहीं-न-कहीं मनोनिग्रह पड़ा है, चाहे वह ज्ञानयोग हो, कर्मयोग हो या भक्तियोग ही क्यों न हो? मन का कुछ युक्तिपूर्वक ही सही, चाहे मिश्री खिलाकर भी, निरोध करना ही है।

इन सबमें परम योग क्या है? तो शुकदेव कहता है: 'परे योग है चित्त का समाधान, चित्त का समतुलन, चित्त का साम्य'। चित्त का साम्य परम साम्य है। आर्थिक, सामाजिक साम्य से मानसिक साम्य निःसंशय श्रेष्ठ है। परन्तु इन तीनों साम्यों से परे एक साम्य है, जिसके पेट में ये सारे आ जाते हैं। वह है, आत्यंतिक परम साम्य। वह वैज्ञानिक क्षेत्र से भी ऊँचा चला जाता है। आर्थिक, सामाजिक क्षेत्र तो साधारण स्थूल-क्षेत्र हैं। मानसिक क्षेत्र ऊँचा है, जो जीवन का नियंत्रण करता है। परन्तु परम साम्य वह चीज है, जो वैज्ञानिक और नैतिक क्षेत्र से भी ऊँचे जाता है याने वह आध्यात्मिक भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है। सारांश परम साम्य याने 'ब्रह्म'। इसके सिवा उसका दूसरा अर्थ ही नहीं हो सकता। इसलिए हमारा लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति हुआ। इसके सिवा दूसरा लक्ष्य हो ही नहीं सकता।

परम साम्य क्यों ?

सवाल यह उठता है कि यदि हमारा लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति है, तो कह देते –'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' और ये सूत्र 'ब्रह्मसूत्र' ही हो जाते। फिर इसे 'साम्यसूत्र' नाम क्यों दिया? हमने इसे 'ब्रह्मसूत्र' नाम इसलिए नहीं दिया कि हम एक पद्धति बताना चाहते हैं। हमने 'परम साम्य' बताया है। याने छोटे-छोटे साम्यों का उपयोग करते-करते परम साम्य तक कैसे पहुँचे, इसकी पद्धति बतायी। गीता ने कहा है:

'इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।' जो लोग साम्य पकड़ ले और उसका विकास करते-करते जहाँ निर्दोष साम्य तक पहुँच जायँ, वहीं वे ब्रह्म में स्थिर हो जायेंगे।

मान लीजिये, कोई योगी है और हीरा, पत्थर, मिट्टी इत्यादि सब समान मानता है। 'समलोष्टाश्मकाञ्चनः।' बल्कि मिट्टी को ज्यादा ही कीमत देता है। अर्थशास्त्र में उसकी कीमत अधिक है, पर यह समान मानता है। परन्तु इतने से परम साम्य नहीं बनता। हाँ, चित्त

में कांचन-वैराग्य आ जाय तो वह परम साम्य की प्राप्ति का एक साधन हो जाता है। कोई शीतोष्ण सहन करता है, तो वह भी एक साधन है। शरीर को काबू में रखने का मतलब यह नहीं कि शरीर से वैर करे या वह विज्ञान के जिन नियमों पर खड़ा है, उन्हींका उल्लंघन करे। शंकराचार्य ने लिख रखा है :

'क्षुद्व्याधिश्च चिकित्स्यतां प्रतिदिनं भिक्षौषधं भुज्यताम्,
स्वाद्वन्नं न तु याच्यतां विधिवशात् प्राप्तेन सन्तुष्यताम्।'

क्षुधा को व्याधि समझो और उसकी चिकित्सा करो। हर रोज भिक्षा में जो मिले, औषध समझकर उसका सेवन करो। मीठी चीजें मत मांगो। भिक्षा में जो कुछ मिले, उसीमें संतोष मान लो। क्षुधारूपी व्याधि को जो औषध जितनी मात्रा में देनी है, उतनी मात्रा में ही दी जाय, कम-ज्यादा मात्रा में नहीं। मीठा औषध है इसलिए ज्यादा, कड़ुआ है इसलिए कम--यह नहीं चलेगा। यह उपमा शंकराचार्य की है। इसलिए शीतोष्णादि सहन करने का अर्थ यह नहीं कि शारीरिक नियमों की परवाह न करे, बल्कि विज्ञान के नियमों का ठीक विचार करके ही शरीर को कसे। केरल की बारिश की मार में हमारी यात्रा चली, फ्लू की हवा ने हमारा गला पकड़ लिया, तो वह बाबा का योग गिर गया, ऐसा कहने का मौका न रहना चाहिए। ३५०" बारिश में हमें अनुकूल होना चाहिए, बारिश हमारे अनुकूल नहीं होगी। ध्यान रखें कि बारिश होने पर किस तरह बर्ताव किया जाय। योगपूर्वक ही व्यवहार होना चाहिए। तितिक्षा का अर्थ यह नहीं कि हम विज्ञान के नियमों का ही विरोध करें।

अपर साम्यों से परम साम्य का दर्शन

ऐसे अनेकविध साम्यों में श्रेष्ठ साम्य मानसिक साम्य है, परन्तु इसके भी परे ब्रह्म है। **मनसः समाधि**--मानसिक समाधान या मानसिक साम्य प्राप्त करने की वस्तु है, परन्तु परम साम्य तो दुनिया में है ही। उसे प्राप्त क्या करना है? वह तो है ही। इसलिए उसका आविष्कार ही

करना है, उसे खोजना है। वह कोई बनाने की चीज नहीं। हमें आर्थिक, सामाजिक या मानसिक साम्य स्थापित करना है, परंतु परम साम्य स्थापित करने की बात ही नहीं। हमें भिन्न-भिन्न अपर साम्यों की स्थापना करनी है। अपर साम्य प्राप्तव्य है, स्थापित करने योग्य है। उसे स्थापित करने से उस परम साम्य का दर्शन होगा, जो पहले से ही मौजूद है। वह हमारे अंधत्व के कारण नहीं दीखता था। हम इतनी सादी साधन-क्रिया दिखाना चाहते थे, इसलिए 'अभिधेयं परम ब्रह्म' लिख सकते थे। अगर वह लिखते, तो शांकर भाष्य के साथ पूरी तरह मिल जाते और उसे लिखने की भी कोई जरूरत न होती। परंतु हमने कह दिया: "अभिधेयं परम साम्यम्'। जब नये सूत्र लिखने बैठें, तो पुराने सूत्र लेकर नवयुग के अनुकूल चीज होनी चाहिए। इस तरह स्पष्ट है कि अपर साम्यों की प्राप्ति करके परम साम्य का दर्शन होगा, तो 'अभिधेयं परम साम्य' सम्पन्न हो जायगा।

पांडवपुर (मैसूर)

३०-९-'५७

:

ज्ञानयोग की प्रक्रिया : २ :

महा वाक्यम् अनुचिन्तयेत् (सूत्र ७०)

ततः शासनमुक्तिः (सूत्र ७१)

आत्मशक्तेर् भानात् (सूत्र ७२)

'महावाक्य' वे कहलाते हैं, जो योगियों और महर्षियों के अनुभव के सार-रूप छोटे-छोटे अनुभव के आदेश हैं। वे अर्थ में महान् होते हैं, इसलिए 'महावाक्य' कहलाते हैं। दुनिया के जो सबसे छोटे वाक्य हैं,

उनमें महावाक्यों की गिनती है, जैसे 'तत् त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि। यह अपने देश की एक विशेष साधना है, जो दूसरे देशों, दूसरे धर्मों या सम्प्रदायों में कम पायी जाती है।

'अनुचिन्तयेत्' याने 'सततं चिन्तयेत्', 'निरन्तरं चिन्तयेत्', 'प्रतिक्षणं चिन्तयेत्', 'आमरणं चिन्तयेत्', 'आजीवनं चिन्तयेत्'। अपने हरएक काम में महावाक्य का चिन्तन करें। विभिन्न आचार्यों ने उसकी प्रक्रियाएँ बहुत विस्तार के साथ समझायी हैं। उनमें बहुत विविधता है। 'मैं वह हूँ'—'सः अहं अस्मि'। तो 'मैं वह हूँ', इस वाक्य में 'मैं', 'वह' और 'हूँ' कहने से क्या अर्थ निकलता है ? इसी तरह 'तत् त्वम् असि', इसमें 'तत्', 'त्वम्' और 'असि' कहने से क्या तात्पर्य निकलता है ? ऐसी बहुत बारीक चर्चा की गयी है। उन्हीं चर्चाओं के अनुसार सम्प्रदाय बने हैं। रामानुज-सम्प्रदाय महावाक्य का चिन्तन एक प्रकार से करता है, तो शांकर-सम्प्रदाय दूसरे प्रकार से। मध्व, निम्बार्क, वल्लभ, विष्णुस्वामी और भी भिन्न-भिन्न प्रकारों से करते हैं। वेदान्त के अन्य विचारक और ही किसी प्रकार से करते हैं। गीता के तेरहवें अध्याय के आधार पर हमने 'गीता-प्रवचन' में लिखा है कि 'हम शरीर से भिन्न हैं', इतनी पहचान आसानी से होती है; क्योंकि शरीर में फर्क होते हैं, कई प्रकार की बीमारियाँ होती हैं, उसके लिए हम इलाज करते हैं। इसलिए शरीर के फर्क, दोष, बीमारियों आदि को पहचानने और उसके लिए इलाज ढूंढ़नेवाले हम इस शरीर से भिन्न हैं, यह पहचानना मुश्किल नहीं ! लेकिन इतने से महावाक्य का अनुचिन्तन नहीं होता। भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। यहाँ मैं उसका एक अर्थ रख रहा हूँ, पर उसके लिए मेरा कोई आग्रह नहीं।

महावाक्य-चिन्तन

'तत् त्वम् असि'–'तू वह है।' इस महावाक्य में 'वह' याने विशाल विश्वरूप-परिपूर्ण शक्ति जिसमें भरी हुई है। 'तू' याने जो अपने को

महसूस कर रहा है। देह के अन्दर विराजमान, सीमित, मर्यादित, अल्प-शक्तिवाला, जैसा तू अपने को मान रहा है, अनुभव कर रहा है, वैसा नहीं है; बल्कि तू 'वह' है! बहुत ही ऊँची उड़ान, असम्भव-सा चिन्तन और अपने नित्य के अनुभव के विरुद्ध सोचने का आदेश यह है! तू कहता है कि 'मैं दुर्बल हूँ', तो वह कहता है, कि 'तू दुर्बल नहीं, बलवान् है।' तू कहता है, 'मैं बीमार हूँ', तो वह कहता है, 'नहीं-नहीं, तू स्वस्थ है।' तू कहता है, 'मैं बुद्धिहीन हूँ', तो वह कहता है, नहीं, तू बुद्धि से परे है।' यह बहुत बड़ी बात हो जाती है, जिसका चिन्तन करना आसान नहीं।

'मैं देह से अलग हूँ', यह समझना तो आसान है; परन्तु 'मैं वह हूँ', यह समझना आसान नहीं! उसके लिए दूसरी साधना करके अपनी शुद्धि करनी होती है। बीच में कई रुकावटें आती हैं। इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि की रुकावटें आती हैं। परिस्थिति की भी रुकावटें आती हैं। परन्तु हम उन्हें अधिक महत्त्व न दें, उन्हें छोड़ दें; क्योंकि जो अपने निज स्वरूप का चिन्तन करने बैठा हो–'मैं देह से अलग हूँ', इसका चिन्तन करने बैठा हो, वह परिस्थिति की परवाह नहीं करेगा। यदि वह भी परिस्थिति के कारण आनेवाली बाह्य उपाधियों के फेर में आयेगा, जैसे कि प्रायः मनुष्य आता ही है, तो वह चिन्तन में अधिक प्रगति न कर सकेगा। इसलिए वह बाह्य उपाधियों से दबता नहीं, यही मानकर हम आगे बढ़ें। फिर भी, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि के कारण जो रुकावटें पैदा होती हैं, उनमें उन्हें मुश्किल मालूम तो होती ही है।

मान्यताओं की मर्यादा और अर्थ

'कन्वेन्शन्स' (Conventions), 'नोशन्स' (Notions) और 'आइडियाज' (Ideas) याने रूढ़ियों, मान्यताओं और कल्पनाओं की पकड़ मन पर रहती है। फिर कर्तव्य-भावना (Sense of duty) भी

है। जब मैं आध्यात्मिक दृष्टि से चिन्तन करने बैठता हूँ, तो कुल की कुल कर्तव्य-भावना गलत मालूम पड़ती है। कुछ सही और कुछ गलत, ऐसा नहीं मालूम होता। यह कर्तव्य-भावना मान्यता पर याने कुछ मानी हुई चीजों पर ही निर्भर रहती है। वे मानी हुई चीजें मान लेने से सही मालूम होती हैं और न मान लेने से गलत !

लक्ष्मण यदि मानता कि 'मैं दशरथ का पुत्र हूँ', तो वह राम के साथ वन में न जाता ! राम ने उसे कहा भी कि 'तू दशरथ का पुत्र है, दशरथ की सेवा में यहीं रह जा, तो तेरे लिए भी अच्छा है।' यदि राम के साथ न जाकर 'मैं पिता का पुत्र हूँ, बड़ा भाई राम वन में जा रहा है, तो यहाँ रहकर भरत को मदद देना भी मेरा कर्तव्य है। पिता को भी वह अच्छा लगेगा', यह सोचकर लक्ष्मण रह जाता, तो वाल्मीकि इसकी भी प्रशंसा करता, क्योंकि वह तटस्थ पुरुष था। जो कोई जिस किसी भी कर्तव्य-भावना से जो भी काम कर ले, वह प्रशंसापात्र है। एक के ऊपर एक स्तर होता ही है। जो मनुष्य जिस स्तर पर है उस स्तर पर रहकर कर्तव्य से प्रेरित होकर वह आचरण करता है, तो वह अच्छा ही है। यदि लक्ष्मण मानता कि 'मैं दशरथ का पुत्र हूँ', तो उसका वह मानना गलत नहीं था। परन्तु उसने माना कि 'मैं राम का भाई हूँ।' वैसे दशरथ का पुत्र और राम का भाई, ये दो अलग नहीं, एक ही हैं, उनमें विरोध नहीं। फिर भी जहाँ दो पक्ष हो जाते हैं, राम-पक्ष और दशरथ-पक्ष, वहाँ फैसला करने की बात आती है। वहाँ 'हम दोनों' कहने से कोई नतीजा न निकलेगा। दो में से एक हूँ, यही कहने से फैसला हो जाता है। लक्ष्मण ने फैसला किया कि 'मैं राम का भाई हूँ।' बस, मामला खतम हो गया। यह मानने की बात थी। यदि वह मानता कि 'मैं दशरथ का पुत्र हूँ', तो वह भी मानने की बात थी। इसी तरह सारी कर्तव्य-भावना मानने पर निर्भर है !

परम साम्य का मार्ग

मान्यता पूर्णतया सही नहीं होती है। किसीकी निजी मान्यता के हिसाब से एक मान्यता अधिक सही होती है, एक कम सही होती है या बिलकुल गलत भी हो सकती है। लेकिन मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूँ कि कर्तव्य-भावना का बोझ सिर पर न रहे, कुल की कुल हजामत हो जाय, एक भी बाल न बचा रहे! 'तूझे कर्तव्य है नहीं, तू कर्तव्यातीत है', इस तरह अपने स्वरूप को पहचानने के विषय में भावना की वे सारी बाधाएँ उपस्थित होती हैं। फिर बुद्धि की बाधाएँ भी आती हैं। 'इन सबसे मैं परे हूँ', यह समझना कठिन है। भावना से हम परे हैं, ऐसा मानें, तो जीवन शुष्क और निस्सार हो जायगा, ऐसा लगता है और बुद्धि से भी अलग मानें, तो फिर कहाँ पहुँचें? इस तरह इसे पहचानने में ये सारे विघ्न आते हैं। इसलिए धीरे-धीरे अनुभव, धैर्य और तपस्या से एक-एक परदा दूर करना पड़ेगा, चिन्तन-मनन करना होगा। उसके लिए जितने साधन हैं, उन सबकी मदद लेनी पड़ेगी। साथ ही यह चिन्तन भी जारी रहना चाहिए कि 'मैं वह हूँ!' फिर उसका अनुभव आयेगा।

ऋषि कहता है कि 'श्रद्धस्व सौम्य'—तू श्रद्धा रख। मनुष्य श्रद्धा रखता है, तो उसमें ताकत आ जाती है। धीरे-धीरे यह अनुभव आता है। महावाक्य के अनुचिन्तन की यह एक विशिष्ट ही प्रक्रिया है। इससे मनुष्य देह, मन, इन्द्रियाँ, वासना, भावना, बुद्धि आदि सबसे परे हो जाता है और अपनी मूल स्थिति में आता है, परम साम्य में आकर पहुँच जाता है।

महावाक्य-चिन्तन की प्रक्रिया हमारे देश की विशेष प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया नाम-स्मरण प्रक्रिया के करीब है। जैसे भक्ति-मार्ग में नाम-स्मरण की प्रक्रिया है, वैसे ही वेदान्त में महावाक्य-चिन्तन की है। नाम-स्मरण की प्रक्रिया आसान है। बहुतों को मदद पहुँचाती है और

सान्त्वना देती है। वाक्य-विचार के चिन्तन की प्रक्रिया अन्दर से भी मदद पहुँचानेवाली है। ऐसे दोनों प्रक्रियाएँ परस्पर निकट आती हैं।

महावाक्य-चिन्तन से शासन-मुक्ति

महावाक्य के अनुचिन्तन से क्या होता है? तो, ततः शासन-मुक्तिः!' 'शासनमुक्ति' शब्द हमने बहुत चलाया है। पहले हमने 'शासन-हीन' शब्द चलाया था, जो अविवेक से निकल पड़ा था; लेकिन बाद में छानबीन करके समुचित शब्द ध्यान में आया, जो इस सूत्र में दाखिल कर दिया। 'गीता-प्रवचन' में उसकी व्याख्या करते हुए एक छोटी-सी बात कही है: "मनुष्य अपने को देह, मन और बुद्धि से अलग मान ले, तो उसका पूरा अर्थ हो सकता है। परन्तु देह से भी अलग मान ले, तो जालिम लोगों की कुछ न चलेगी। उनकी इसलिए चलती है कि आपकी अपने देह पर आसक्ति है। उससे लाभ उठाकर आपको वे भयभीत करते हैं। वे शस्त्रास्त्र खड़े करते हैं, दमन का आयोजन करते हैं, तो मनुष्य डरता है।" किन्तु महावाक्य का अनुचिन्तन चलने पर तो ध्यान में आयेगा कि मैं छोटा रूप नहीं हूँ, इसलिए छोटे रूप को विनाश का जो भय दिखाते हैं, वह काम में न आयेगा। फिर किसी बाहरी जुल्मी मनुष्य की सत्ता आप पर नहीं चलेगी। परन्तु इस सूत्र का यह मुख्य अर्थ नहीं है। अर्थ यह है कि आप पर मन की सत्ता नहीं चलनी चाहिए।

आज मनुष्य के जीवन पर मन की सत्ता चलती है। लोग कहते हैं कि 'हम स्वतंत्र हैं, किसीका आदेश नहीं मानेंगे!' पर वे निरन्तर मन का आदेश मानकर ही चलते हैं! नाम तो है—इच्छा-स्वातंत्र्य पर उसका अर्थ होता है, मानसिक गुलामी; अपने मन की गुलामी! मनुष्य को भ्रम होता है कि आजादी है, लेकिन होती है गुलामी; 'हम आजाद हैं, हम दूसरे की बात न मानेंगे', इसका अर्थ यह हुआ कि दूसरा यानें हमारा जो बाह्य रूप फैला हुआ है, उससे हम अपने को अलग मानते हैं, अर्थात्

अपने को संकुचित बना लेते हैं ! 'हम किसीकी भी नहीं सुनते', ऐसा कहते हो, तो मन की भी मत सुनो ! संभव है कि दूसरा तुम्हारे मन से ज्यादा अक्लवाला हो। तब दूसरे की न सुनने का मतलब है, दूसरे की अक्ल ज्यादा होने पर भी उसकी न सुनना और अपने मन की सुनना ! मेरा हाथ कमजोर है। वह मेरे शरीर का हिस्सा है। पर मैं स्वावलंबन का घमंड नहीं करता कि मैं अपने ही हाथ से काम लूँ। 'मैं' याने कौन ? क्या यह हाथ 'मैं' हूँ ? यह हाथ टूट जायगा, तो दूसरे का हाथ भी मेरा ही है ! इतना समझने की अक्ल मुझमें होनी चाहिए। इसलिए मैं अपने कमजोर हाथ से काम नहीं लेता, दूसरे के मजबूत हाथ से लेता हूँ। यह अक्ल का काम है। अपने ही हाथ से काम लेने का आग्रह रखना मूर्खता है। वैसे ही, अपने कमजोर मन की बात मानने का आग्रह रखना और दूसरे की मजबूत अक्ल को न मानना मूर्खता है। इच्छा-स्वातन्त्र्य तब होता है, जब इच्छा मिटती है। यह ऐसा अजीब इच्छा-स्वातंत्र्य है कि इच्छा मिटते ही स्वातंत्र्य हाथ लग जाता है !

मन की गुलामी

टॉल्स्टॉय की एक छोटी-सी किताब का मुझ पर बड़ा असर हुआ है, जिसका नाम है—Slavery of our Times (हमारे जमाने की गुलामी)। उसमें उसने बताया है कि 'आजादी आती है, तो नाममात्र की आती है, परन्तु उसका अर्थ यह होता है कि पुरानी गुलामी गयी और आजादी के नाम से नये प्रकार की गुलामी आयी। लोग समझते हैं कि हम आजाद हो गये, बड़ा पराक्रम कर लिया, गुलामी से मुक्त हुए। परन्तु उसका अर्थ यह है कि पुरानी गुलामी से मुक्त हुए पर नयी जो चीज आयी, वह आजादी नहीं, गुलामी है !' बहुत दफा राष्ट्रों के बारे में यही चलता है। इटली और जापान में आजादी आयी और फौरन उन्होंने गुलामी का आरम्भ किया !

हमारा भी हाल ऐसा ही होता है। हम कहते हैं कि हम आजाद हुए, 'अपनी इच्छा' के अनुसार काम करेंगे ! लेकिन वह इच्छा आपकी है या और किसीकी ? 'आपकी' इच्छा है ही नहीं, इच्छा तो 'मन की' होती है। आप तो इच्छा से परे हैं। इच्छा के मुताबिक काम करने का अर्थ है, मन के मुताबिक काम करना। मन तो मेरा नौकर है ! मैं 'अपनी इच्छा से' चलूँगा याने 'नौकर' के अनुसार चलूँगा। अगर मेरा पड़ोसी मुझसे ज्यादा अक्लवाला है, तो भी मैं उसकी इच्छा के अनुसार न चलूँगा, अपने नौकर की इच्छा से चलूँगा, क्योंकि वह मेरा नौकर है ! अगर नौकर से अपनापन लगाना है, तो पड़ोसी से क्यों नहीं ? परन्तु पड़ोसी के साथ अपनापन लगाने का हमने तय नहीं किया और नौकर के साथ लगाने का तय किया है ! इस तरह हम अपने नौकर के गुलाम बनते हैं ! ऐसा कौन गुलाम है, जो अपने स्वामी का गुलाम नहीं है ?

इस तरह आजादी के नाम से हम किसी-न-किसी गुलामी में पड़ते हैं ! तो, उन सब गुलामियों से मुक्त होना पड़ेगा। महावाक्यों के अनुचिंतन की यह खूबी है कि वह लोगों को बिलकुल आखिरी चोटी तक पहुँचा देता है। जहाँ यह कहा कि 'तत्त्वमसि' 'तू वह है', वहाँ वह पहले दर्जे पर जाता है; उससे सर्वथा शासन-मुक्ति होती है। अपने पर किसीका शासन नहीं चलता है। न कोई सामाजिक शासन चलता है, न मनुष्य आदि का शासन, न वासना का और न किसी जीव का। पूर्ण शासनमुक्ति होती है !

आत्म-शक्ति के भान का गौरव

वह क्या होता है, उसकी प्रक्रिया क्या है, वह इस तीसरे सूत्र में है 'आत्मशक्तेर् भानात्'--इसमें आत्मा की शक्ति का भान होता है। शक्ति वत कहाँ है ? आत्मा में ! और कहीं भी शक्ति का स्रोत नहीं है। सर्वज्ञ-सर्वशक्तिमान् आत्मा ही है, पर मनुष्य को भास होता है कि शक्ति

हाथ, पाँव, आँख और कान में है ! अभी मेरा कान गड़बड़ कर रहा है। किसी दिन वह कहेगा कि अब मुझे रुखसत दो ! मैंने अपने मन को समझा दिया है कि यह कान छुट्टी लेगा, तो तू बहुत मुक्ति पायेगा ! फिर मूर्खों की बात तो सुननी ही नहीं पड़ेगी और खूब समय बच जायगा ! लेकिन अगर कल आँखें रुखसत लें, तो ? मेरी आँख भी कान के जैसी ही भागने की कोशिश कर रही है ! फिर मिल्टन कवि की-सी मेरी हालत होगी।

मिल्टन कविता तो बहुत अच्छी लिखता था, पर राजनीति में बहुत पड़ा था। लेकिन जब वह अन्धा हो गया, तो उसकी राजनीति छूट गयी। उससे पहले वह हर रोज राजनीति पर लिखता था। पर आज कोई भी उसे नहीं पढ़ता ; जो कोई उसे पढ़ता है, उसका 'पैराडाइज लास्ट' ग्रंथ ही पढ़ता है ! जब उसकी आँखें चली गयीं, तो उसने महसूस किया कि मेरी बड़ी भारी शक्ति गयी, अब मैं न तो पढ़ सकता हूँ और न लिख सकता हूँ। दूसरों की मदद के बिना व्यवहार भी नहीं कर सकता। अपने साधन गये और अब दूसरों पर आधार रखना पड़ेगा। इस तरह दुगुना दबाव आया। एक गीत में वह लिखता है –

"Does God exact day labour,
light denies I fondly ask;
But patience to prevent that
murmur, soon replies;
God doth not need either man's
work or His own gifts,..
Thousands at his bidding speed and post
Over land and ocean without rest;...
They also serve who only stand and wait.'

मैंने अपने से पूछा, प्रकाश तो परमेश्वर ने छीन लिया है। फिर

क्या वह प्रकाश में किये जानेवाले कर्तव्यों की मुझसे अपेक्षा करेगा ? यह तो हो नहीं सकता।

इतने में अन्दर से धैर्य की आवाज आयी···'They also serve who ouly stand and wait.'

अन्दर शिकायत चल रही थी। उसे मिटाने के लिए धैर्य बोल रहा है कि "परमेश्वर मनुष्य से काम नहीं चाहता है, क्योंकि वह काम तो उसीका दिया हुआ है। अपना ही दिया हुआ दान कौन वापस चाहेगा ? उसमें कौन बड़ी बात है ? लाखों-करोड़ों उसकी सेवा में दौड़ रहे हैं, तब मेरे जैसा नहीं दौड़ता है, तो क्या होगा ? सेवा के लिए आँख की जरूरत नहीं है। 'दे आल्सो सर्व हू ओनली स्टैण्ड ऐण्ड वेट' जो खड़े रहेंगे स्थिर रहेंगे, 'स्टैण्ड' रहेंगे। —'स्थान' से 'स्टैण्ड' आया है। राह देखेंगे, स्थिरता, धैर्य और शांति रखेंगे, वे भी सेवा करेंगे।"

मैंने इसमें जरा फर्क किया है—'दोज एलोन सर्व हू स्टैण्ड ऐण्ड वेट' 'आल्सो' (भी) के बदले 'एलोन' (ही)। उसने 'वे भी' लिखा और मैंने 'वे ही' किया। वे ही वास्तव में सेवा करते हैं, जो शांत रहते हैं, दौड़-धूप नहीं करते हैं। दौड़-धूप से सेवा नहीं होती है और हम सारा ईश्वर पर सौंप देते हैं।

आत्मशक्ति के भान से ही शासन-मुक्ति

अस्तु, मैं कहना यह चाहता था कि मिल्टन के हाथों दुनिया की वास्तविक सेवा तो उसकी अंधत्व-प्राप्ति के बाद हुई। अंधा होने के बाद ही उसने 'पैराडाइज लास्ट' लिखा। वह बगीचे में बैठता था। उसका दिल और दिमाग कविता से भरा रहता था। वह अपनी लड़की से लिखवाता था। सारा काव्य उसने बोलकर लिखाया। मनुष्य को लगता है कि आँखों में बहुत शक्ति है, आँखें गयीं, तो क्या होगा ? पर यह तब तक होता है, जब तक आत्म-शक्ति का भान नहीं होता। तब तक हम

मूल शक्ति को छोड़कर प्रतिबिम्ब को ही पकड़ रखते हैं। कान या आँखें काटकर यहाँ रखी जायँ, तो उनमें क्या शक्ति रहेगी? कान और आँखों में जो शक्ति है, वह अन्दर की किसी चीज के साथ चिपके रहने से आयी है। वह चीज क्या है? इसका उत्तर केवल 'शरीर' नहीं है। वह चीज है, 'आत्म-शक्ति', जो आँख, कान आदि से प्रकट होती है!

सारांश, 'आत्मशक्तेर् भानात्'—जब आत्म-शक्ति का भान होता है, तब शासन-मुक्ति होती है। महावाक्य के अनुचिन्तन से आत्म-शक्ति का भान होता है। आत्म-शक्ति का भान होने पर उस पर किसीकी सत्ता नहीं चलती, परिपूर्ण स्वतन्त्रता आती है। उसीके साधन बतानेवाले ये तीन सूत्र हैं।

बेल्लाळ (कर्नाटक)
१-१०'-५७

भक्तियोग की प्रक्रिया : ३ :

नाम्ना सादगुण्यम् (सूत्र ९९)

तद् हि पापापहारि (सूत्र १००)

साम्य सूत्रों का लक्ष्य स्वाभाविक ही परम साम्य की प्राप्ति है, जो प्रथम सूत्र में बताया गया है। उसके लिए मुख्य साधन तो यही होगा कि जीवन में साम्य की साधना की जाय, जो अनेक प्रकार से होती है। जैसे—आर्थिक, सामाजिक और मानसिक। इस तरह साध्य और साधन दोनों एकरूप हो जाते हैं। उसी तरह परम साम्य की प्राप्ति साध्य है और साम्ययोग की भूमिका का भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में अभ्यास साधन।

यों इसमें परिपूर्ण परमार्थ मार्ग आ गया। साम्ययोग की साधना में कई प्रकार के अनुभवों की मदद होती है। उसकी एक प्रक्रिया है—ज्ञान-योग। ज्ञानयोग की प्रक्रिया बड़ी विशाल है, लेकिन उसका अन्तरंग महावाक्य-चिन्तन में आता है, जिसे ज्ञान का सार-सर्वस्व कह सकते हैं। इस प्रक्रिया में हमारा सम्बन्ध विशाल, विराट के साथ आता है। देहगत चैतन्य और विराट् चैतन्य में सम्बन्ध जोड़ने का काम महावाक्य-चिन्तन से होता है। दूसरी प्रक्रिया भक्तियोग है।

कर्म में वैगुण्य अवश्यम्भावी

साम्य-सूत्र के सत्रहवें अध्याय के अन्त में जो सूत्र हैं, उन्हें हम आज लेना चाहते हैं। वे सूत्र हैं :

(१) 'नाम्नासाद्‌गुण्यम्'

(२) 'तद् हि पापापहारि'

सभी सन्तों, वैष्णवों, शैवों और अन्य उपासकों ने नाम की महिमा बतायी है। परन्तु इस सूत्र में वह एक विशेष रूप से बतायी गयी है। प्रथम सूत्र में बताया गया है कि नाम से साद्‌गुण्य होता है। 'साद्‌गुण्य' शब्द 'वैगुण्य' का विरोधी है। 'वैगुण्य' का अर्थ है, विगुणता, न्यूनता, कमी, खामी, त्रुटि। हमारे चिन्तन, आचरण, प्रयत्न और कर्मयोग में अनेक प्रकार की विगुणता, न्यूनता या कमी रह जाती है। उसकी पूर्णता नाम से होती है। मनुष्य परिपूर्णता के लिए कोशिश करता है, पर वह सधती कहाँ है? मनुष्य का सारा-का-सारा प्रयत्न कितना भी विशुद्ध हो, तो भी विगुण रह जाता है। उसमें कुछ-न-कुछ कसर रह ही जाती है। अनवधान, प्रमाद या ज्ञान की कमी के कारण जो कमियाँ रह जाती हैं, वे कर्मयोग में बाधक होती हैं। आप खेत में कुछ बोयें और बोने के काम में कुछ कसर रह जाय, तो जो फसल आयेगी, उस पर उसका असर होगा ही। दक्षता या ज्ञान की कमी रही, तो कर्म पर उसका असर

होता ही है। इसीलिए उस कर्म का पूरा फल नहीं मिलता। परिणाम का नाश होता है, क्योंकि उसमें विगुणता रहती है। नाम के कारण परमार्थ में जो विगुणता रह जाती है, वह सद्गुण हो जाती है—गुण-वती, परिपूर्ण हो जाती है। भक्ति-मार्ग की यही विशेषता है कि इसमें नाम-प्रताप से कर्मयोग की अपूर्णता पूर्ण हो जाती है, जो कर्मयोग से पूर्ण नहीं होती। ज्ञान से वह पूर्ण हो सकती थी। परन्तु अपने पास ज्ञान तो है नहीं, इसलिए वह नहीं जाती। इसलिए अशरण को नाम की शरण मिल जाती है। इस तरह नाम-स्मरण से साधक की आन्त-रिक साधना पूर्ण होती है।

नाम-स्मरण के चमत्कार

ईश्वर नाम की एक स्वयंभू शक्ति है। इसलिए नाम-स्मरण से चमत्कार भी होता है। मान लीजिये कि हमने बड़ी निष्काम बुद्धि और ईश्वरार्पण-वृत्ति से खेती की, पर उसमें कुछ न्यूनता रह ही जायगी। इससे फसल ठीक न उगेगी। साधना में न्यूनता न रह जाय, यही हम चाहते हैं और खेती हमारी साधना है। परन्तु फसल डूबने पर साधना ही डूबी, ऐसा नहीं कहा जायगा। साधना न डूबे, इतना कार्य नाम-स्मरण से हो सकता है। इतना ही नहीं, नाम से भौतिक चमत्कार भी हो सकता है। फसल भी पूर्ण आ सकती है। यह श्रद्धा की बात है। अगर हम नाम-स्मरण से कार्य करते हैं, तो वह नाम कार्य की आन्तरिक और बाह्य न्यूनता की भी पूर्ति करता है। हरि-नाम के प्रताप से ये चमत्कार हो सकते हैं। इस तरह हरि-नाम से दोनों सद्गुण (आन्तरिक और बाह्य सद्गुण) भी आते हैं। कर्म-विपाक की प्रक्रिया से न्यूनता की पूर्ति हो सकेगी। यह आश्वासन कोई कर्मयोगी नहीं दे सकता। बल्कि वह कहता है कि कर्म-विपाक ही होगा। कर्म-विपाक कहता है कि 'जैसा बोओ, वैसा पाओ'। बबूल बोकर आम नहीं, बबूल ही पाओगे। परन्तु भक्तियोग में कर्म-विपाक की प्रक्रिया को भी खण्डित करनेवाली कोई चीज पड़ी है। इसका अनुभव भक्ति-मार्ग में

आता है। आखिर ईश्वर ही सब कुछ करता है। नाम-स्मरण में यह श्रद्धा है कि आप कुछ थोड़ा प्रयत्न करते हैं, तो उसमें जो कमी रह जाती है, उसकी पूर्ति भी भगवान् ही करता है।

दिव्य जीवन का मन्त्र

नाम-स्मरण का यह एक बहुत ही शास्त्रीय परिणाम है। इसका अर्थ हमें समझ लेना चाहिए। नाम-स्मरण का अर्थ है, अपनी हर कृति का ईश्वर के साथ सम्बन्ध जोड़ना। हम जो भी काम करें, ईश्वर के नाम से करें, हरि-सेवा के भाव से करें। एक भाई ने हमसे कहा, "मैं हरिजन सेवा करता हूँ, परन्तु परिणाम नहीं आता।" हमने उनसे कहा, "तुम अपने को 'हरिजन-सेवक' क्यों कहलाते हो? हरि-सेवक ही कहो। 'हरि-सेवक' के नाते तुम 'हरिजन-सेवक' बनोगे। 'जन-सेवक' और 'दुर्जन-सेवक' भी होगे, पर कहलाओगे 'हरि-सेवक' ही। जब कर्मयोग में भक्ति आती है, तो इस तरह का फर्क होता है। तो, अपना हर काम ईश्वर के साथ जोड़ देने का अर्थ है— अपना खाना और नींद भी ईश्वर के साथ जोड़ देना। तुम कुल का कुल जीवन दिव्य जीवन बन जाता है। बाह्य रूप में चाहे वह व्यावहारिक जीवन क्यों न हो, परन्तु परिणाम में बाह्य और आन्तरिक— दिव्य जीवन बन जाता है। वही हमें साधना है। इसलिए यह युक्ति सध जाय, तो बहुत बड़ी बात होगी।

'ईश्वर-दर्शन' की बात हम करते हैं, तो वह एक सांकेतिक ईश्वर-दर्शन हो सकता है। हम किसी एक संकेत को ईश्वर मानें, तो उसका दर्शन हो सकता है। जैसे चतुर्भुज रूप को ईश्वर मानें, तो चतुर्भुज रूप का दर्शन हो सकता है। योग और भक्ति की प्रक्रिया से वह दर्शन संभव है। अगर आप उसमें तन्मय हैं, तो आपको दर्शन के रूप में एक आश्वासन भी मिल सकता है। परन्तु वह ईश्वर-दर्शन परिपूर्ण नहीं। जैसे-जैसे मनुष्य ऊँचा चढ़ता जायगा, इस तरह दोनों में अन्तर होता रहेगा ही। वह एक आकांक्षा है और उसे रखते हुए हम अपना

हर काम ईश्वर से जोड़ देंगे, तो मनुष्य-जीवन में चिन्ता, राग, द्वेष आदि कुछ नहीं रहेगा। उनका स्पर्श ही नहीं होगा। सारा जीवन पद्म-पत्रवत् हो जायगा। यह युक्ति हमें सधनी चाहिए। उसके लिए निरन्तर कोशिश करनी होगी।

इसकी बहुत आवश्यकता महसूस होती है। नाम-स्मरण-प्रक्रिया और महावाक्य-चिन्तन की प्रक्रिया, इन दोनों प्रक्रियाओं का हमने अनुभव किया है। एक प्रेम पर आधृत है, तो दूसरी ज्ञान पर। दोनों के बड़े-बड़े लाभ हैं। लेकिन नाम-स्मरण-प्रक्रिया सुलभतम है। अधिक-से-अधिक शीघ्र परिणाम लानेवाली है और अगर सब कर सकें, तो सबको सध सकनेवाली है। इसलिए भगवान् ने गीता के सत्रहवें अध्याय में साधन-चर्चा की समाप्ति करते हुए, 'ॐ तत् सत्' मन्त्र से परिसमाप्ति कर डाली है। यह हुआ 'नाम्ना साद्गुण्यम्'।

'तद् हि पापापहारि'

नाम पाप का निरसन करनेवाला है। प्रथम सूत्र में कहा गया कि हमारी साधना में रहनेवाली अपूर्णता की पूर्णता नाम से होती है। परन्तु जहाँ हम साधना करते ही नहीं, पाप ही करते हैं, तो उसकी पूर्णता क्या होगी ? अगर हम बुराई ही करें, तो उसकी पूर्णता का अर्थ है, पूर्ण बुराई। इसलिए बुराई का तो नाश ही होना चाहिए। वह भी शक्ति नाम में है इसी आश्वासन के कारण करोड़ों लोगों ने धर्म का आश्रय लिया है। हिंदू, बौद्ध, ईसाई, इसलाम आदि जितने भी धर्म हैं, वे किसी-न-किसी रूप में ईश्वर का नाम लेते ही हैं—बौद्ध-धर्म ईश्वर का नाम नहीं लेता, ऐसा लगता है। परन्तु उसमें भी बुद्ध का नाम लिया ही जाता है। 'बुद्धं शरणं गच्छामि' कहा ही जाता है। इसी तरह जैन-धर्म में भी ईश्वर नहीं है, परन्तु उसकी जगह पर रागद्वेष-रहित पुरुष का चिंतन होता ही है। सारांश, करोड़ों लोगों ने धर्म का स्वीकार किया है। वह इस आश्वासन से नहीं कि तुम अच्छा काम

करो तो अच्छा फल पाओगे, अच्छे काम से दोनों लोकों में फल मिलता है। व्यास भगवान् चिल्लाकर कह रहे हैं :

'ऊर्ध्वबाहुः विरोम्येष न च कश्चित् शृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥'

तुम सभी लोग अर्थ-काम की प्राप्ति के पीछे लगे हो। परंतु अर्थ-काम की प्राप्ति होगी, ऐसी आशा उन्होंने दिखाई, तो भी लोगों को उसका ज्यादा आकर्षण नहीं हुआ। वे जानते हैं कि हमें अपने ढंग से अर्थ-काम की प्राप्ति हो ही रही है। खेती करते और खाद वगैरह डालते हैं, तो फसल अच्छी आती है। फिर उसमें धर्म की क्या जरूरत है? करोड़ों लोग धर्म का स्वीकार इसलिए नहीं करते कि उससे अर्थ-नियमन, काम-नियमन ठीक से होगा। एक वासना दूसरे से न टकराये, इसके लिए तो नीतिशास्त्र ही पर्याप्त है, धर्म की जरूरत नहीं।

भक्ति की महत्ता

धर्म की अपेक्षा इसीलिए है कि उससे पाप से छुटकारा पाने का आश्वासन मिलता है। याने धर्म राष्ट्रपति का काम करता है—दया की दरखास्त लागू कराने का। बाकी तो न्यायाधीश, दण्ड-नीति वगैरह सब हैं ही। आपने गलत काम किया, तो न्यायाधीश आपको सजा देगा। और नहीं किया, तो सजा न देगा। आप निर्दोष होंगे, तो न्यायालय से छूट जायेंगे। दोषी होंगे तो पाप के परिणाम में कम-बेशी दंड मिलेगा ही। यह साधारण व्यवस्था है। फिर भी दया के लिए राष्ट्रपति चाहिए। अवश्य ही राष्ट्रपति इतनी दया करता है कि फाँसी की सजा आजीवन जेल के रूप में बदल देता है। परंतु नाम में ऐसी शक्ति है कि मनुष्य का कुल पाप समाप्त हो जाता है। उसका पुराना जीवन बिलकुल कट ही जाता है। उसके साथ उसका कोई संबंध नहीं रहता, वह नव मानव बन जाता है। यह आश्वासन दूसरा योग नहीं,

भक्तियोग ही दे सकता है। भक्तियोग का यह अंश निकाल दो, तो लोगों को धर्म का आकर्षण नहीं रहेगा।

बौद्ध-धर्म में शरणागति

बहुतों का खयाल है कि बौद्ध-धर्म केवल नैतिक है। परन्तु हमने जहाँ तक उसे समझा है, वह वैसा नहीं है। 'बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि।' इस शरणत्रयी में से 'धर्मं शरणं गच्छामि' इतना ही अंश नैतिक है। 'संघं शरणं गच्छामि' यह सत्संगति का परिणाम बतानेवाला है। सत्संगति से बड़ा लाभ होता है। सत्संगति की अपनी एक प्रक्रिया है, जो हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है। वह आपके हाथ से सदाचरण करवा लेती है। आप गलत राह पर चलते हों, तो आपको बचाती है। फिर आप नये पाप नहीं करते, तो आपको नया दण्ड भी नहीं मिलता। पर पुराने पापों के दंडों से भी आप मुक्त हों, इसका कोई मन्त्र सत्संगति नहीं दे सकती है। आपकी पुरानी कुबुद्धि में परिवर्तन और आगे आपसे पाप न हो, इतनी भी करामात कोई कर सकता है, तो वह भी कोई कम नहीं। इसलिए सत्संगति की महिमा अपनी जगह पर पूर्ण है। किन्तु जहाँ 'बुद्धं शरणं गच्छामि' कहा, वहाँ आप पाप से मुक्त हो सकते हैं। यहाँ 'ईश्वर' की जगह एक आदर्श प्रकट मूर्ति के तौर पर 'बुद्ध' को रखा गया है। दूसरे धर्मों में जितनी गाथाएँ, कथाएँ, मूर्तियाँ ईश्वर के लिए बनायी गयी हैं, उतनी बौद्ध-धर्म में बुद्ध के लिए हैं।

मनुष्य भक्ति का आश्रय इसीलिए लेता है कि उससे उसका वासना के साथ पूरा-का-पूरा पाप समूल कट जाता है। यही आश्वासन ज्ञान-योग में भी दिया है। कहा गया है कि ज्ञान से सब कर्म भस्म हो जाते हैं। लेकिन वह मार्ग विकट है। आप तैरकर भी नदी पार कर सकते हैं और नौका में बैठकर भी। आपकी बाहुओं में बल हो, तो तैरकर

जाओ और बल न हो, तो नौका [काम देगी। इसलिए भक्ति का आश्रय सबको मिलता है।

'ईश्वर' के नाम से पाप-क्षालन

सब धर्मों में ऐसी गाथाएँ हैं कि ईश्वर के नाम से पाप कटते हैं। बौद्ध-धर्म में आम्रपाली वेश्या और चोर आदि की कहानियाँ आती हैं। किन्तु किसी सत्पुरुष की शरणता की अपेक्षा ईश्वर की शरणता में अधिक सुरक्षितता है। बुद्ध एक सत्पुरुष हैं। इसलिए उनके दर्शन और स्पर्शन से परिवर्तन हो सकता है। परन्तु उनके स्पर्श या दर्शन से पुराने पाप भी कट जाते हैं, ऐसा आश्वासन किसी सत्पुरुष या संत के लिए दिया जाय, तो संत स्वयं घबड़ा जायेंगे। वे कहेंगे कि हम पर यह बोझ मत डालिये। कोई मनुष्य संत की राह पर चलने के बजाय उस पर बोझ डालेगा, तो वह ठीक नहीं। संत हमसे जो कहते हैं, उसीके अनुसार काम करना चाहिए।

अब सवाल यह है कि आश्वासन यथार्थ है या भ्रामक? क्या सचमुच नाम-स्मरण से पाप खंडित होते हैं? मान लीजिये, हमने बचपन में कोई गलत काम कर लिया और इसीलिए शरीर में बीमारी आयी। तो क्या किसी भगवान् के नाम से यह पाप कट सकता है? हाँ, कट सकता है। अगर भाव की तीव्रता हो, तो उसी क्षण कुल-का-कुल शरीर स्वस्थ हो सकता है। यह हमारी श्रद्धा है। हम उसे साबित नहीं कर सकते, परन्तु हमारी श्रद्धा है कि सब प्रकार के पुराने पाप कट सकते हैं - पाप के परिणाम भी कट सकते हैं। अगर यह श्रद्धा न हो, तो यह मार्ग भी मुश्किल है। ज्ञान-मार्ग से भक्ति-मार्ग सुलभ है। परन्तु भक्ति की प्राप्ति कठिन है। भक्ति-प्राप्ति के बाद सब सुलभ है। फिर कोई सवाल है ही नहीं। फिर सब आनन्दमय है।

भक्ति की प्राप्ति श्रद्धा पर निर्भर

भक्ति की प्राप्ति श्रद्धा पर निर्भर है। श्रद्धा को लोगों ने जितना दुर्लभ माना है, उतनी वह दुर्लभ नहीं है। कोई भी बच्चा श्रद्धा के साथ ही जन्म पाता है। माता-पिता पर उसकी अपार श्रद्धा होती है। इसलिए आत्मज्ञान के समान श्रद्धा दुर्लभ वस्तु नहीं है। परन्तु वर्तमान सामाजिक परिस्थिति के कारण वह दुर्लभ अवश्य बन गयी है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर श्रद्धा सुलभ मालूम होती है। 'तत्त्वमसि' कहने से वह सारी विराट् शक्ति अपने में लायें, यह ज्ञान-मार्ग की प्रक्रिया है। लेकिन नाम-स्मरण से अपने सारे पाप, पुराने भी कट जाते हैं। इसलिए इसे आसान मार्ग कहा है। गीता के 'क्लेशः अधिकतरः तेषाम् अव्यक्तासक्तचेत साम्'—श्लोक पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य ने कहा है कि सगुण मार्ग में क्लेश नहीं है, ऐसा मत समझो। उसमें क्लेश कम है, ऐसा भी मत मानो। यह पक्का समझ लो कि सगुण उपासना में भरपूर क्लेश है। परन्तु निर्गुण उपासना में सगुण से भी अधिक है—'अधिकतरः'।

बापू ने बार-बार कहा है कि जिसे नाम-स्मरण का आधार मिला, उसे औषध की जरूरत नहीं। रामदास का वाक्य है: 'जयासि श्रीराम नाम, तया औषधाचे काय काम ?' बापू की श्रद्धा यह थी कि शरीर और मन के लिए भी नाम से बढ़कर कोई औषध नहीं है। अन्तिम दिनों में उन्हें खाँसी हुई और कुछ मानसिक क्षोभ भी होता था, तो वे यही कहते कि 'यह मेरी नाम-स्मरण की कमी है'। उनके जन्मदिवस के अवसर पर हमें नाम-स्मरण की महिमा गाने का मौका मिला, यह हम अपना बहुत बड़ा भाग्य समझते हैं।

मेलकोटे (कर्नाटक)

२-१०-'५७

कर्मयोग की प्रक्रिया : ४ :

कर्ममातृकम् अकर्म (सूत्र १७)

द्विरूपं तु (सूत्र १८)

व्यक्तलिंगम् एकम् (सूत्र १९)

अव्यक्तलिंगम् अपरम् (सूत्र २०)

शुक-जनकयोः एकः पंथा (सूत्र २३)

साम्ययोग की साधना और परम साम्य का लक्ष्य, इतना कहने से साध्य और साधन दोनों निर्दोष हो जाते हैं। उसके लिए एक मददगार प्रक्रिया ज्ञानयोग की है। महावाक्य-चिंतन में उसका थोड़े में विचार किया गया है। उसके बाद इसी प्रकार की भक्ति की साधना की, जो अपेक्षाकृत कुछ आसान हो जाती है, यद्यपि वह भी कठिन ही है, नाम-स्मरण की प्रक्रिया में चर्चा की गयी। नाम-स्मरण से सबको लाभ होता है, ठीक राह पर चलनेवालों को भी और गलत राह पर चलनेवालों को भी ठीक राह पर चलनेवालों की गति कम हो, उसके कारण वैगुण्य या न्यूनता रहे, तो नाम-स्मरण से साद्गुण्य प्राप्त होगा, वैगुण्य की पूर्ति होगी। जिन्हें पूर्वकर्म के कारण दुराचरण की राह प्राप्त हुई है, उन्हें नाम-स्मरण से उससे भी छुटकारा मिलेगा। ऐसा परम आश्वासन दिया गया है। इस तरह साम्ययोग की मदद में ज्ञान और भक्ति की प्रक्रियाएँ हमने देखीं।

कर्म से ही अकर्म का जन्म

अब 'कर्मयोग' लेंगे। इसका सांगोपांग विवेचन 'गीता-प्रवचन' में कई अध्यायों में मिलकर किया गया है। परन्तु साम्ययोग-सूत्रों में उसकी विशेष छानबीन पाँचवें और सत्रहवें अध्याय में की गयी है। पाँचवें अध्याय का एक सूत्र हम लेते हैं :

'कर्ममातृकम् अकर्म'

अकर्म के लिए कर्म मातृस्वरूप है, ऐसा इस सूत्र का अर्थ है। यह विचार भी एक विशेष विचार है और इस सूत्र की भाषा भी विशिष्ट है। इसमें कर्म को मातृस्थान में माना गया है। कर्म याने स्वधर्माचरणरूप कर्म, जिसे हम लौकिक भाषा में 'कर्तव्य' कहते हैं। लेकिन जो सहजप्राप्त कर्तव्य है, अपनी ओर से उठाया हुआ नहीं है, वह कर्म है। ऐसा सहज-प्राप्त कर्म मातृस्थान में है। याने साधक को जितनी साधना करनी होती है, वह सब शिशुवत् है। यहाँ तक कि जिसे तुम 'अन्तिम-अवस्था' याने अकर्म कह सकते हैं, वह भी कर्म का आभारी है और एक तरह से कर्मजन्य ही है। इसीलिए हम कहते हैं कि अकर्म दशा में कर्म का स्वरूप बिलकुल बदल जाता है। उनका सीधा जन्य-जनक सम्बन्ध या तार्किक सम्बन्ध शायद नहीं भी कहा जाय, फिर भी एक प्रकार से कर्म में से ही अकर्म निकलता है।

कर्म से मोक्ष-प्राप्ति

साधारणतया माना गया है कि कर्म बन्धनकारक है। गीता में भी ऐसी भाषा आती है। कम-से-कम हिन्दुस्तान के तत्त्वज्ञान में तो करीब-करीब यह सर्वमान्य वस्तु है। 'करीब-करीब' मैंने इसलिए कहा कि एक पक्ष यह भी कहता है कि कर्म से ही मोक्ष, जिसे 'स्वर्ग' या स्वर्ग-तुल्य अवस्था कह सकते हैं, मिलता है। 'कर्मभिः निःश्रेयसम्' कर्म

से ही मुक्ति या अन्तिम ध्येय की प्राप्ति होगी, ऐसा माननेवाला एक पक्ष हिन्दुस्तान में है। उसे 'पूर्व मीमांसा' कहते हैं। उसके अलावा हिन्दुस्तान में दूसरा कोई पक्ष नहीं, जो सीधे कर्म से मुक्ति दिलाता हो। सांख्य, योग, वेदान्त, न्याय-वैशेषिक या जैन-बौद्ध भी मानते हैं कि कर्म बन्धनकारक है। हां, एक चार्वाक ऐसा माना जायगा, जो कर्म को महत्त्व देता है; परन्तु मुक्ति को नहीं मानता। वह इहलोक-परायण माना जायगा। उसकी दृष्टि दूसरी ही है। परन्तु 'कर्मभिः निःश्रेयसम्' कहनेवाले इहलोक-परायण नहीं। वे कहते हैं, आत्मा को ऊँची अवस्था प्राप्त हो सकती है, वह प्राप्त करनी है और वह कर्म से ही प्राप्त हो सकती है। कर्म का सीधा परिणाम है ऊँची अवस्था प्राप्त होना, जिसे स्वर्ग, मोक्ष, परम कल्याण, निश्रेयस् आदि कहा जायगा। वह तत्त्वज्ञान का ही एक पक्ष हो सकता है।

जो इहलोक के बाद जीवन ही नहीं मानता, उसकी गिनती तत्त्वज्ञान में नहीं होती। आधुनिक भाषा में उसे 'सेक्यूलरिज्म' (भौतिकवाद) या 'साइण्टिफिक मटीरियलिज्म' (शास्त्रीय ऐहिकवाद) कहा जायगा। वह ऐहिकवादी है, ऐसा बहुतों का गलत खयाल हो गया है; परन्तु वह वैसा नहीं है। वह कहता है कि मन विश्व का प्रतिबिम्ब है, विश्व मन का प्रतिबिम्ब नहीं। और विश्व का, 'मॅटर' का स्वरूप क्या है, इसका निर्णय हम विज्ञान पर छोड़ते हैं। विज्ञान का आज तक का निर्णय यह था कि 'मॅटर' जड़ है। उसीमें कुछ हलचल पैदा होती है, तो वह चैतन्य का आभास है, परन्तु वह आभासमात्र ही है। इस तरह 'साइण्टिफिक मटीरियलिज्म' जड़वादी होता है। परन्तु वास्तव में वह जड़वादी नहीं है। अब विज्ञान संशय प्रकट कर रहा है कि शायद विश्व चेतन भी हो। इसलिए अब 'साइण्टिफिक मटीरियलिज्म' संशयवादी बना है, जो पहले जड़वादी था। लेकिन आगे विज्ञान कहेगा कि विश्व का स्वरूप चेतन है, तो वह 'ब्रह्मवाद' होगा।

शांकर भाष्य में लिखा है कि जो जड़ दीखता है, वह लुप्त चेतन है। पहले विज्ञान कहता था कि वास्तव में विश्व जड़ है, परन्तु जो हलचल दीखती है, वह चैतन्याभास है। अब अगर यह निर्णय हो जाय कि सारा विश्व ही चैतन्यमय है, तो विज्ञान कहेगा कि जो जड़ दीखता है, वह चैतन्यलोप है—सुप्त-चैतन्य है। सारी सृष्टि समाधिस्थ है। हमारे सामने जो पुस्तक है, वह जड़ दीखती है। परन्तु वह हमारे साथ बोलती है, उसका हमारे दिमाग पर असर होता है। वह अगर पत्थर जैसी जड़ हो, तो असर कैसे होगा ? इसलिए इसका रूप चैतन्यमय है। यह पुस्तक हजारों चेतनों को हिलाती-डुलाती है, इसलिए वह चेतन है, सुप्त चेतन है। पत्थर को हम जड़ समझते हैं, परन्तु कितने चेतनों को वह प्रेरणा देता है, कितने लोग उसकी पूजा करते है, इसलिए वह सुप्त चेतन है। इस तरह अब 'साइण्टिफिक मटीरियलिज्म' ब्रह्म-वाद होगा।

दूसरा 'मटीरियलिज्म'—जो कहता है कि खाओ, पियो और मौज करो, वह तुच्छ वस्तु है। परन्तु 'साइण्टिफिक मटीरियलिज्म' का स्थान तत्त्वज्ञान में इसलिए आया कि वह विश्व के स्वरूप का निर्णय विज्ञान पर छोड़ता है और संभव है कि विज्ञान यह निर्णय दे कि विश्व चेतनमय है।

जेम्स जीन्स की मिसाल

जेम्स जीन्स ने एक पुस्तक लिखी है—'मिस्टीरिअस युनिवर्स' (गूढ़-विश्व)। वह गणितज्ञ था। गणितज्ञ की दृष्टि से ही उसने सृष्टि की ओर देखा। वह ब्रह्मवादी नहीं था। परन्तु अन्त में वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि सम्भवतः कुल सृष्टि में कुछ विचार है, कुछ आयोजन है। ठीक यही युक्ति ब्रह्मसूत्र में दी गयी है। वहाँ सांख्यों को उत्तर दिया गया है कि तुम जड़ प्रकृति का अनुमान करते हो, परन्तु वह अनुमान ठीक नहीं है, क्योंकि उस दृष्टि से देखने पर विश्व की रचना

की उत्पत्ति नहीं दीखती। सृष्टि की रचना की ओर हम बारीकी से देखते हैं, तो जड़ प्रकृति का अनुमान नहीं दीख पड़ता है। इसलिए चैतन्य का ही अनुमान करना पड़ेगा।

अकर्म की माता कर्म

इस तरह मीमांसकों और चार्वाक को छोड़कर भारत में ऐसा कोई तत्त्वज्ञान मौजूद नहीं, जो यह मानता हो कि कर्म से सीधा निःश्रेयस् प्राप्त होता है। गीता में भी, जो कि आरम्भ से अन्त तक कर्मयोग से भरी है, वैसा नहीं कहा है। हमने गीता को 'साम्ययोग' नाम दिया है। साधना का ढांचा क्या होना चाहिए, इसका उत्तर गीता देती है—'कर्म'। बाकी की सब चीजें कर्म में आती हैं। साधना कर्मजन्य है। अन्तिन अवस्था, जिसे गीता 'अकर्म' नाम देती है, वह भी कर्मजन्य है, कर्म का शिशु है। हम मातृ हत्या नहीं कर सकते, इसलिए जब तक कि शरीर कायम है, मुक्तावस्था में भी कर्म का पालन होगा। शरीर का अस्तित्व कर्म की आवश्यकता की निशानी है। जब उसकी आवश्यकता नहीं रहेगी, तब देह भी नहीं रहेगी–गिर जायगी। इसलिए निरन्तर कर्म चलते रहना चाहिए। साधना का मुख्य और स्थूल अंश कर्ममय होना चाहिए। खाना, पीना, निद्रा आदि सभी कर्म के ही प्रकार हैं। खाने के लिए मेहनत करनी पड़ती है। इस तरह चिंतन, ध्यान, निद्रा, विश्राम आदि सब कर्म का ही विस्तार है। साम्ययोग की सिद्धि के लिए इस कर्म-विस्तार को टालना नहीं होता, बल्कि इसका सांगोपांग आचरण करना होता है। यही गीता की दृष्टि है।

'कर्ममातृकम् अकर्म' इस सूत्र में भी यही बात विशेष ढंग से बतायी गयो है और एक बहुत गहरा विचार छेड़ा है। जब तक उस विचार के बारे में निस्सन्देहता उत्पन्न नहीं हुई, तब तक हम गीता पर चिंतन करते रहे, लेकिन उस पर लिखा नहीं। लेकिन जब पाँचवें अध्याय

के बारे में हम निस्सन्देह हो गये, तब लिखना आरंभ किया। 'गीताई' हमने पाँचवें अध्याय से ही लिखनी शुरू की और जब विश्वास हुआ कि वह ठीक हुआ, तब हमें लगा कि बेड़ा पार होगा। वैसे ग्यारहवाँ अध्याय छंदोरचना की दृष्टि से कुछ कठिन है, परन्तु छंदोरचना का हमें अभ्यास है। लेकिन गीता-तत्त्वसार पाँचवें अध्याय में गहराई में जाता है। उसके बारे में बहुत भ्रम पैदा हुए थे। हमने गीता की जितनी अधिक टीकाएँ पढ़ीं, उतना ही वह भ्रम और बढ़ा। हमने शंकराचार्य, ज्ञानदेव और अरविन्द का गहराई से अध्ययन किया और बाकी की टीकाएँ देख लीं। लेकिन ज्ञानदेव और शंकराचार्य के जैसे बड़े-बड़े भाष्यकारों की टीकाओं में भी पाँचवें अध्याय में उलझन-ही-उलझन है। चाहे उनमें उलझन न भी हो, लेकिन हमें मालूम हुई। इसलिए हमने वे टीकाएँ अलग रख दीं और चिंतन किया। वेदों से लेकर जो परम्परा चली आयी है, उसे देखा तो रहस्य खुल गया।

रहस्य यह है कि अकर्म दशा दोहरी होती है, 'द्विरूपं तु' यह सूत्र है। अकर्म द्विरूप होता है। ऐसा उसका वर्णन किया गया है।

व्यक्तलिंग और अव्यक्तलिंग

उसके साथ-साथ और सूत्र हैं।

'व्यक्तलिंगमेकम्'

'अव्यक्तलिंगमपरम्'

अकर्म की एक प्रक्रिया है—व्यक्तलिंग और दूसरी है-अव्यक्तलिंग। दोनों शास्त्रीय शब्द हैं। उपनिषदों में ये शब्द आते हैं। एक में लिंग व्यक्त है और दूसरे में अव्यक्त है। इसका अर्थ है कि दोनों ज्ञान की अवस्थाएँ हैं, ज्ञान से भरी हैं, ज्ञानमय हैं; लेकिन एक में ज्ञान गुप्त है, ज्ञान का लिंग याने पहचान गुप्त है। दूसरे में ज्ञान ही व्यक्त होता है। जहाँ ऐसे ज्ञानी हों, जो स्थूल अर्थ में कर्म कम करते हों और जिनकी

वाणी से या थोड़ी हलहल से प्रतिक्षण ज्ञान ही व्यक्त होता हो, ऐसे ज्ञानी व्यक्तलिंग कहलायेंगे। और जिसका ज्ञान अन्दर गुप्त रहता है, खूब भरा रहता है; परन्तु परोपकार का कार्य चलता रहता है, लोग उसे ग्रहण करते रहते हैं, उस कार्य में साथ देते रहते हैं, चोरी से कुछ थोड़ा ज्ञान मिल जाता है, बाकी कर्म-प्रवाह स्पष्ट और ज्ञान गुप्त रहता है, वे ज्ञानी अव्यक्तलिंग कहलायेंगे।

किन्तु कर्मयोग की दृष्टि से सोचेंगे, तो जहाँ स्पष्ट रूप से कर्म दीख ही रहा है, ज्ञानी चौबीसों घण्टे कर्म करता दीखता है, स्वयं काम करता और दूसरों से करवाता है, वह व्यक्तलिंग है। याने वहाँ उसका चिह्न या लिंग कर्म के रूप में प्रकट है। लेकिन जहाँ ऐसा कर्म प्रकट नहीं है, प्रेरणारूप में प्रकट है, अव्यक्त रूप में छाकर असर डालता है, वह अव्यक्तलिंग है।

इस तरह अव्यक्तलिंग के परस्परविरोधी दो अर्थ हो जाते हैं। कर्मयोगी को अव्यक्तलिंग कहा जाय, तो संन्यासी को व्यक्तलिंग कहा जायगा। संन्यासी को व्यक्तलिंग कहा जा सकता है, तो फिर कर्मयोगी को अव्यक्तलिंग कहा जायगा। इस तरह व्यक्तलिंग और अव्यक्तलिंग, ये दो शब्द ऐसे हैं कि कौन अव्यक्तलिंग है और कौन व्यक्तलिंग है, यह बात वह बोल नहीं रहे हैं। उनसे इतना ही मालूम होता है कि दोनों ज्ञानी ही हैं। एक दृष्टि से देखा जाय, तो एक स्थिति एक दृष्टि से कर्म करते हुए अकर्म का दर्शन करानेवाली दीख पड़ती है, तो दूसरी दृष्टि से अकर्म में कर्म दिखानेवाली साबित होती है।

आश्रम-जीवन अकर्म में कर्म

हम अपनी ही मिसाल लेते हैं। हम ज्ञानी नहीं हैं, फिर भी उस मार्ग के पुरुष को ज्ञान की झाँकी अवश्य होती है। सूर्योदय एक बात है और उषा दूसरी बात है। सूर्योदय के पहले उषा होती है। अनुभव भी

यही कहता है। हम आश्रम में जो काम करते थे, उसके बारे में कहा जा सकता है कि वह अकर्म में कर्म था। याने हम सामाजिक कार्य नहीं करते थे, बहुत-सी प्रवृत्तियों में भाग न लेते थे, योजना नहीं बनाते थे, आश्रम में सहजभाव से काम होता था। जो काम होता था, उसमें छुट्टी नहीं थी, बिना आराम के काम चलता था। वह एक अकर्म-दशा थी। परन्तु उसमें हमें ऐसा अनुभव नहीं होता था कि हम किसी कोने में पड़े हैं या विश्व या सृष्टि की हमें पहचान नहीं है। जो जागतिक शक्तियाँ काम कर रही हैं, उनसे हम अलग पड़े हैं, ऐसा भास नहीं होता था; बल्कि बिलकुल सृष्टि बीच में है, ऐसा ही लगता था। मैंने कहा भी था कि "सारी दुनिया का मध्यबिन्दु है, परंधाम पवनार। कुल दुनिया उसके इर्द-गिर्द खड़ी है। परंधाम पवनार मध्यबिंदु सिर्फ इसीलिए है कि हम वहाँ रहते हैं। और कोई कारण नहीं है।" हमें ऐसा भास कभी नहीं हुआ कि हम विश्व-शक्तियों से अलग पड़े हैं। बल्कि उल्टा ही था। उन विश्व-शक्तियों के साथ चलनेवाले आंदोलनों में हिस्सा लेनेवालों को उन आन्दोलनों का जो ज्ञान था, उससे बहुत ज्यादा और बहुत बारीक ज्ञान हमें था। इस तरह एक प्रकार से वह अकर्म में कर्म था।

पद-यात्रा भी अकर्म-दशा

आज हमारी जो भूदान-यात्रा चल रही है, उसमें अनेक मनुष्यों के साथ हमारा संबंध आता है। योजना बनती है, बीच-बीच में संकल्प भी होते हैं, इस तरह बड़ा ऊधम दीखता है, परन्तु अन्दर अत्यन्त शांति है। तो, इस अवस्था में कर्म में अकर्म का दर्शन होता है। दूसरे अर्थ में देखा जाय, तो आश्रम में हम तीव्र कर्म करते थे। दिन में १४ घण्टे काम करते थे, जरा भी आराम न लेते थे। लेकिन उस समय शान्ति का अनुभव था। इस तरह वह कर्म में अकर्मवाली अवस्था थी। और इस वक्त हम क्या करते हैं? थोड़ा-सा घूम लेते हैं और कुछ नहीं करते। इस वक्त न हम खेती करते हैं, न बुनाई; न बीमार की सेवा

करते हैं, न खाद के गढ़े खोदते हैं और न बच्चों को पढ़ाते हैं। ठीक आठ बजे सो जाते हैं। कताई भी कभी-कभी बन्द रहती है। पर हमें उसकी कोई चिंता नहीं है। जिस कताई के लिए हमारा १९२५ से लेकर १९५० तक पचीस साल में एक भी दिन नागा नहीं हुआ, उसमें भी भंग होता है, तो हमें कुछ नहीं लगता। हमारा पैदल चलने का एक संकल्प चल रहा है, तो दूसरे सब संकल्प बाजू में रखे हैं। कुल मिलाकर इस वक्त हमसे कोई उत्पादक कार्य नहीं हो रहा है। इस तरह यह हमारी अकर्म-दशा है, ऐसा लगता है; परन्तु इसमें भी काफी कर्म होता है।

दोनों में परस्पर विरोध नहीं

इस तरह एक ही अवस्था को कर्म में अकर्म-दर्शन और अकर्म में कर्म-दर्शन कह सकते हैं। परन्तु दो आदर्शों का भेद मानकर उनकी तुलना करके एक श्रेष्ठ है और दूसरा कनिष्ठ है, ऐसी चर्चा बहुत चली है। लोकमान्य तिलक ने 'गीता-रहस्य' में इसकी चर्चा करके कर्मयोगी को श्रेष्ठ माना है। उनके पहले कितनों ने संन्यासी को श्रेष्ठ माना था। तो ऐसे शख्स का आना लाजिमी था, जो कहे कि कर्मयोगी श्रेष्ठ है। लोकमान्य ने कहा कि दोनों श्रेष्ठ हैं, परन्तु कर्मयोगी श्रेष्ठ है और संन्यासी गौण। इस तरह का गौण-मुख्य-भेद कुछ अंश में शांकर-भाष्य में भी है और पूर्ण अंश में गीता-रहस्य में भी शांकर-भाष्य में 'कुछ अंश में है', ऐसा इसलिए कहा कि आचार्य का विवेचन बारीक और सूक्ष्म होता है। दोनों एक ही हैं, ऐसे वचन भी उनके भाष्य में पड़े हैं। परन्तु उनका झुकाव संन्यास की ओर था, यह सर्वत्र दीख पड़ता है। साम्य-सूत्रों में झुकाव की बात नहीं, दोनों को अक्षरशः एकरूप कहा है। कर्म में अकर्मवाली अवस्था सामान्यतया सुलभ है और अकर्म में कर्मवाली अवस्था कठिन; पर दोनों एक ही हैं। इसी निश्चय पर 'साम्य-सूत्रों' का लेखक आया है।

शुक और जनक एकरूप

इसीलिए अन्त में एक सूत्र में कहा गया है—

'शुक-जनकयोरेकः पंथाः।' शुक का एक पंथ है और जनक का दूसरा पंथ, इस तरह लोकमान्य ने गीता-रहस्य में लिखा है। इस तरह दो पंथों की बात की गयी है। विहंगम और पिपीलिका, संन्यास और योग, ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा आदि अनेक प्रकार के भेद प्रकट किये गये हैं। परन्तु हमारे मन का निश्चय है कि शुक और जनक का एक ही पंथ है, बाकी सबका अन्य पंथ है। कर्मयोग का विचार बहुत बुनियादी है। साम्य-योग की साधना में कर्मयोग नहीं टालना चाहिए। कर्म टालने के प्रयत्न में बन्धन बढ़ेगा, छूटेगा नहीं।

सोमनहल्ला, जिला-मंड्या (मैसूर)

३-१०-'५७

गुण-विकास की प्रक्रिया : त्रैगुण्य-सिद्धान्त : ५ :

प्रकृतिः शोध्या (सूत्र ७५)

हम एक बहुत विशाल, व्यापक काम में लगे हैं। मैं नहीं मानता, इससे अधिक व्यापक और विशाल कार्य की कोई कल्पना सारे समूह के लिए आज तक अपने देश में हुई है या हो सकती है। व्यक्तिगत तौर पर जीवन में, चिंतन में या समाधि में कोई मनुष्य बहुत गहराई में पहुँच जाता है। वह अलग बात है, परन्तु कुल समाज के लिहाज से इससे अधिक गहरी व्यापक योजना शायद ही हो सकेगी। कुल समाज में—व्यक्ति तथा समूह के जीवन में हम परिवर्तन लाना चाहते हैं। मेरी

मान्यता है कि स्वराज्य-प्राप्ति के बाद सत्ता के जरिये सेवा का जो कार्य हमें मिला, सरकार बना करके हमें लेना पड़ा है, वह एक प्रवाह-पतित कार्य है। उसे हम टाल नहीं सकते थे, पर वह अपने में महत्त्व का नहीं है। वह प्राप्त कार्य है, जिसे हाथ में लिये बिना चारा नहीं था। जिन लोगों ने वह कार्य हाथ में लिया और उसको चला रहे हैं, उनका मैं उपकार मानता हूँ। परन्तु उतना ही करने के लिए या उतने में ही सन्तुष्ट हो जाने के लिए हमने स्वराज्य प्राप्त किया हो, तो वह स्वराज्य अधिक मूल्यवान् नहीं रहेगा। स्वराज्य-प्राप्ति के लिए हमने गांधीजी के मार्ग-दर्शन में जिन विशेष प्रकार के साधनों का इस्तेमाल किया, उनकी भी प्रतिष्ठा नहीं रहेगी।

आध्यात्मिक विचारों की शरण

हमने जान-बूझकर वह रास्ता छोड़ा है। फिलहाल हमारे जैसे जो थोड़े बचेंगे, उन अल्पसंख्यकों पर गुरुभार आता है। उस गुरुभार के लायक हमें बनना होगा। हममें अपने बीच गाढ़ अनुराग, नम्रता और अपने को शून्य बनाने की वृत्ति होनी चाहिए। इसलिए आत्मशोधन की जरूरत है और हमारे सेवकों की अन्तःशक्ति बढ़ाने की अत्यन्त आवश्यकता है। इस लिहाज से बार-बार मैं अपना आश्रय आध्यात्मिक विचारों में ढूंढ़ता रहता हूँ। मेरी मान्यता है कि हम सबको उस आध्यात्मिक क्षेत्र से बल प्राप्त करना चाहिए।

जीवनाधार गहरा हो

हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम अपने जीवन का आधार ऊपर का नहीं, बल्कि गहरा आधार पकड़ें। जब हम हमारे समाज के बुनियादी परिवर्तन की बात करते हैं, तो हमें उसका बुनियादी परिचय भी होना चाहिए। आज के समाज की प्रकृति की बनावट का हमें पूरा ज्ञान होना चाहिए। सृष्टि, समाज और प्रकृति तीनों का परिचय होना

चाहिए। हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि हमारी यह देह-प्रकृति या शरीर-प्रकृति उस बनावट से मुक्त नहीं है।

यह देह एक अमूल्य साधन हमें मिला है। उसमें पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय और पंचविध अन्तःकरण हैं। वह एक बहुत बड़ी शक्ति है, हेय वस्तु नहीं। लेकिन उसका समुचित उपयोग करने के लिए उससे अपने को अलग पहचानने की जरूरत है।

सांख्यों का त्रैगुण्य-विचार

सांख्यों ने विश्लेषण कर प्रकृति में तीन गुण बताये हैं। उन्होंने केवल समाज का विश्लेषण नहीं, बल्कि सृष्टि का भी विश्लेषण किया। समाज, सृष्टि और चित्त, तीनों का विश्लेषण कर सांख्यों ने हरएक में त्रिगुणों की उपपत्ति खोज निकाली। ये उपपत्तियाँ हमारे लिए हर प्रकार से लाभदायी हैं। समाज-व्यवहार में चित्त को प्रसन्न रखने में, चित्त का उपयोग करने में, उस पर अंकुश रखने में और सृष्टि के मूलभूत तथ्यों की खोज में त्रैगुण्य का यह विचार बहुत लाभदायी है।

विकासवाद तथा अन्य वाद

ऐसी उपपत्तियाँ तत्वज्ञानियों ने, ज्ञानी पुरुषों ने समय-समय पर खोज निकाली हैं। बीच में डार्विन का 'विकासवाद' निकला। भिन्न-भिन्न जीव-सृष्टि कैसे विकसित होती है, इसकी एक विश्लेषणात्मक खोज उन्होंने की। मनुष्य पहले कोई दूसरा प्राणी था। मछली से विकसित होते-होते मनुष्य हुआ है। उसकी प्रकृति और जीवन अन्य प्राणियों से भिन्न नहीं, इस तरह की एक उपपत्ति उन्होंने हमारे सामने रखी। जब वह उपपत्ति निकली, तब समाज में समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, नीतिशास्त्र की जो भी चर्चा होती थी, वह डार्विन के विकासवाद का उपयोग किये बिना नहीं होती थी। इस तरह उस विकासवाद ने काफी जोर पकड़ा था। लेकिन अब उसका वह जोर कम पड़ गया है,

क्योंकि उसमें जो न्यूनता थी, उसका भान हो गया है। वह विचार ज्यादा वैज्ञानिक नहीं था, इसलिए पीछे पड़ गया। विज्ञान में यही होता है। उसका उत्तरोत्तर विकास होता रहता है।

इन दिनों एक नया वाद चल रहा है–आइन्स्टाईन का 'सापेक्षवाद'। यह बड़ा जबरदस्त वाद है। आज के चिन्तन पर उसका असर पड़ा है। हमारे इस देश में भी आजकल तत्त्वज्ञान की बड़ी ऊँची उड़ानें ली गयी हैं, जिनमें श्री अरविन्द की 'सुप्रामेंटल थिअरी' आती है। ऊपर ईश्वर तक पहुँचकर मुक्तिरूपी पूँजी हासिल करके नीचे उतरकर फिर सारे समाज को वैसा रूप देना—यही विचार अरविन्द ने चलाया। ये जो बहुत-सी उपपत्तियाँ आती हैं, वे हमारी जीवन-पद्धति पर असर डालती हैं। ऐसा ही एक वितर्कवाद है, जिसे मार्क्स ने हमारे सामने रखा।

कार्यकर्ता वादों का चिन्तन करें

विकासवाद, सापेक्षवाद, अवतारवाद और उसमें भी अतिमानसावतारवाद, इन सबका हमारे कार्यकर्ताओं को थोड़ा-थोड़ा चिन्तन करना चाहिए। इन दिनों 'इकॉनॉमिक्स थिअरी' पर खूब चर्चा चली है। 'कंट्रोल इकॉनॉमी' या 'लेसे फेअर इकॉनॉमी' वगैरह की चर्चा उसमें होती है। लेकिन वह तो छोटी बात है। यह गहरे पानी में ले जानेवाली नहीं है। उससे जीवन-शोधन नहीं होता। जीवन-शोधन के लिए आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान जरूरी है। जीवन-सिद्धान्त की गहरी चर्चा तत्त्वज्ञानी किया करते हैं। हमें उनका चिंतन, मनन और उन विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करना चाहिए।

त्रैगुण्य समग्र सृष्टि में व्याप्त

सांख्यों ने जिस त्रैगुण्य-सिद्धान्त का वर्णन किया है, वे तीन गुण चित्त, समाज और सृष्टि में अपने ढंग से भरे रहते हैं। यह सिद्धान्त जब से निकला है, तब से कायम ही है। वह वेदान्त में बेजोड़ साबित हुआ है।

उसका खंडन नहीं हुआ और न हो ही सकता है। उसकी जगह कोई दूसरा ले नहीं सकता। महाभारत में एक जगह व्यासदेव ने सांख्यों का गौरव गाया है :

'ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किंचित्
सांख्यागतं तच्च महन् महात्मने।'

लोगों में जो भी ज्ञान फैला है, सबका सब सांख्य से आया है—ऐसा गौरवपरक श्लोक महाभारत में सांख्यों के लिए आया है।

त्रैगुण्य की यह उपपत्ति इतनी व्यापक है कि तीनों क्षेत्रों में व्याप्त है। वह बड़ी अद्भुत है। पेन, पुस्तक, मूर्ति, इन सबमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण भरे हैं। ये सृष्टिगत चीजें हैं, इसलिए जड़ मानी जाती हैं। परन्तु इन जड़ वस्तुओं में भी तीन गुण भरे हैं। किसी भी जड़ वस्तु को देखने पर हमारे मन में भावनाओं की जो तरंगें उठती हैं, वे किसी भी व्याख्याता के व्याख्यान से कम नहीं हैं। 'गुरुबोध' ग्रन्थ जड़ है, लेकिन उसके पढ़ने से ज्ञान मिलता है, यह अद्भुत ही है। यह है पेन! यह जड़ है, पर दूसरों का विचार समझने में इसका उपयोग होता है। यह पेन जड़ है, इसे चैतन्य हासिल है यह कबूल नहीं; पर शेक्सपीयर का पेन इंग्लैण्ड में रखा हुआ है। लोग उसे देखने के लिए आज भी जाते हैं। क्यों जाते हैं? इसलिए कि पेन में भी कुछ चीज अवश्य होगी। कारण, उसके द्वारा कितनी आश्चर्यकारक बातें लिखी गयीं। सारांश, उस पेन में भी सत्वगुण है।

ये हाथी-दाँत की मूर्तियाँ बँगलोर के कॉरपोरेशन की ओर से हमें प्रेम से भेंट दी गयी हैं। मैं तो मूर्ति-पूजक हूँ नहीं, पर प्रेम से दिया है, इसलिए परित्याग नहीं करूँगा। इसमें हाथी के दाँत के सिवा और कुछ नहीं। फिर भी उससे जो भाव प्रकट होता है, वह किसी वक्ता के व्याख्यान से कम नहीं, क्योंकि उससे सत्त्वगुण प्रकट हो रहा है, जो कि

वहाँ अव्यक्त रूप में है। इस तरह सृष्टि में सत्व, रज और तमोगुण भरे हैं।

चित्त में त्रैगुण्य का स्पष्ट दर्शन

चित्त में तो सत्व, रज और तमोगुण होते ही हैं। मनुष्य रात को सोता है। सुबह उठ जाता है, तो चित्त खूब प्रसन्न रहता है। उस समय स्मरण-शक्ति जाग्रत रहती है। चित्त शांत है। कल रात को किसी पर ज्यादा गुस्सा हुआ। रात को अच्छी तरह से नींद हो गयी, सुबह उठते ही कुछ उसका भान नहीं है। एक रात संतोष कर ले, तो चित्त पर बहुत अच्छा परिणाम होता है। चित्त एकदम शांत हो जाता है।

सुबह सत्त्वगुण हुआ। फिर थोड़ी देर में भूख लगी, तो उसी चित्त में रजोगुण दाखिल हो जाता है। यह एक चित्त की बात है। भिन्न-भिन्न चित्तों की बात अलग ही है। भिन्न-भिन्न मनुष्य में भिन्न-भिन्न गुण कम ज्यादा होते ही हैं। रहते हैं तो तीनों गुण, पर किसी में कोई गुण ज्यादा, तो कोई कम रहता है। चौबीस घंटों के अन्दर उसका परिवर्तन होता ही रहता है। जैसे वातावरण में पारा कभी ऊपर उठता है, तो कभी नीचे गिरता है, वैसे ही चित्त पर इन तीनों गुणों का असर रहता और ये गुण भी दिन में बदलते रहते हैं।

सुबह तो चित्त शांत था। थोड़ी देर के बाद भूख लगी, तो रजोगुण आया। काम का समय आया, काम किया। फिर भूख लगी, तो खा लिया। अब थोड़ा आराम करने की इच्छा हुई, तो तमोगुण शुरू हो गया। दिनभर खूब काम हुआ, शरीर पूरा थक गया। शरीर और चित्त, दोनों थक गये। रात को तमोगुण के बिना चारा नहीं। तो प्राणी गहरी नींद में सो जाता है। गहरी शांत नींद—निःस्वप्न निद्रा, यह गुण यद्यपि तमोगुण में आता है, फिर भी यह तमोगुण हेय नहीं। रोज सात-आठ घंटे गहरी नींद निष्ठापूर्वक लेनी ही चाहिए।

सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण को अवकाश देकर ही समाज-रचना करनी होगी। अवश्य ही जीवन में सत्त्वगुण के लिए काफी मौका रहे, फिर भी रजोगुण या तमोगुण का भी जीवन में एक स्थान है और वह रहना ही चाहिए, क्योंकि उसकी भी जीवन में आवश्यकता है। सृष्टिगत गुणों के बारे में जो स्थान हमारे जीवन में है, उसे हम टाल नहीं सकते। इस दृष्टि से मानव के लिए जो भी कुछ हमें करना है, उसके बारे में सोचना चाहिए।

तीनों गुणों का यथास्थान नियोजन

यद्यपि जीवन पर सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों का परिणाम होता है, फिर भी जीवन में जो पटरी बनेगी, वह सत्त्वगुण की होनी चाहिए। फिर इंजन रजोगुण का और डब्बे तमोगुण के हों, तो गाड़ी ठीक तरह से चलेगी। अगर पटरी रजोगुण की रही और इंजन सत्त्वगुण का हुआ, तो भी वह गलत होगा, क्योंकि गाड़ी गलत रास्ते जाने का डर है। अगर पटरी तमोगुण की हो, तो भी इंजन गलत रास्ता पकड़ सकता है। अगर इंजन तमोगुण का हो, तो गाड़ी आगे बढ़ेगी ही नहीं। गति के लिए रजोगुण चाहिए, उसके बिना गति न आयेगी। लेकिन सामने टूटा हुआ पुल हो, और बेवकूफ इंजन दौड़ता ही रहे, तो क्या दशा होगी ? नीचे गिरेगा।

रजोगुण जब मार्गदर्शक बनता है, तो उसमें खतरा होता है। इसलिए मार्गदर्शन के लिए सत्त्वगुण, गति के लिए रजोगुण, शांति, आराम या व्यवस्था के लिए तमोगुण चाहिए।

कडवा, जिला–तुमकूर (मैसूर)

१-११-'५७

गुण-विकास की प्रक्रिया :

चित्त-शमन की युक्ति : ६ :

श्रम-संजात वारिणा (सूत्र ७६)

वेगस्य शमनं स्वधर्मेण (सूत्र ७८)

स्वाभाविकत्वात् (सूत्र ७९)

त्रिगुणात्मक प्रकृति की उत्पत्ति बताते हुए मैंने कहा था कि ये तीनों गुण उपयोगी हैं। जितने अंशों में वे प्राकृतिक हैं, उनमें कोई भी हेय नहीं, लेकिन उन्हें काबू में रखना चाहिए। उनका ठीक से उपयोग होने के लिए कुछ योजना बननी चाहिए। उस योजना के अनुसार काम किया जाय, तो हम उन पर काबू रख सकते हैं। तो इन तीनों गुणों में हरएक के लिए अलग-अलग तीन प्रकार की योजनाएँ करनी पड़ेंगी। मैंने साम्ययोग के सूत्रों में उसकी चर्चा की है।

शरीर-श्रम से तमोगुण का शोधन

तमोगुण के लिए जो योजना करनी है, उसका सूत्र है :

'श्रम-संजात वारिणा।' ये शब्द तो मैंने पुराने शास्त्रों में से लिये हैं, परन्तु सूत्र नया बनाया है। इसका अर्थ है, शरीर-परिश्रम से - शरीर से जो वारि याने पानी या पसीना निकलता है, उस पसीने से — प्रकृति के तमोगुण का शोधन करना होगा। प्रकृति में जो तमोगुण है, उस पर हम शरीर-परिश्रम के द्वारा ही काबू प्राप्त कर सकेंगे। हम जानते ही हैं कि सारी दुनिया में अन्न आदि जितनी भी आवश्यक वस्तुएँ हैं, उनका

उत्पादन श्रम द्वारा ही होता है। आजकल उसमें औजारों से मदद मिलती है, जिससे परिश्रम में बहुत-सी सहूलियत हो जाती है। फिर भी उत्पादन के लिए शरीर-श्रम करना ही पड़ता है। आज उसके लिए किसी को बहुत ज्यादा परिश्रम करना पड़ता है, तो दूसरे किसीको परिश्रम के लिए मौका ही नहीं मिलता। जिन्हें बहुत अधिक परिश्रम करना पड़ता है, उन पर उसका बुरा असर होता है। फिर जिन्हें शरीर-परिश्रम का मौका ही नहीं मिलता, उन पर भी उसके दूसरे प्रकार के दुष्परिणाम होते हैं। इस तरह दोनों प्रकार के लोगों का हर प्रकार से नुकसान ही होता है। इसलिए शरीर-श्रम द्वारा शरीर से पसीना बहाने का नियम जीवन के लिए जरूरी हो जाता है।

मैंने जो पैदल-यात्रा का नियम रखा है, उसके कई कारण हैं। किंतु उनमें एक मुख्य कारण यह है कि इसके द्वारा शरीर-श्रम हो जाता है। कई बार लोग मेरे प्रति दयाभाव से प्रेरित होकर सूचना देते हैं कि "बाबा, आप एक जगह एक-दो महीने बैठकर आराम करें। आपका काम हम ही लोग कर लेंगे।" लेकिन मैं जवाब देता हूँ, "आप लोगों को काम करने के लिए क्या बाबा को बैठने की जरूरत है? आप काम कीजिये। अगर हम इस शरीर को आराम देने की सोचेंगे, तो वह निकम्मा बन जायगा। फिर वह कहेगा कि अब यह बासठ साल का हो गया है, और कितना घूमेगा? दूसरे जवान लोग हैं, वे काम करें। लेकिन आज उसे कार्यक्षम करने का यही मार्ग है कि उसे बैठने न दिया जाय।"

शरीर-श्रम व्रतरूप में

गांधीजी ने हमें यह शरीर-श्रम का व्रत सिखाया। यह व्रत नया नहीं है। हमारे खयाल में यह बात रही है कि तमोगुण के नियन्त्रण के लिए शरीर-परिश्रम की आवश्यकता है। लेकिन आज उत्पादन के लिए श्रम पर जितना जोर दिया जाता है, उतना पुराने जमाने में नहीं दिया

जाता था। इसका एक कारण यह हो सकता है कि उस समय जन-संख्या कम थी। स्वभावतः उत्पादन वैसे ही पर्याप्त परिमाण में हो जाता था। आज की जैसी आर्थिक तंगी उस समय नहीं थी। अतएव उस पर ज्यादा जोर नहीं दिया जाता था। फिर भी उस जमाने के सोचनेवाले ऋषि शरीर-परिश्रम द्वारा उत्पादन के महत्त्व को पहचानते थे और उसकी सूचनाएँ भी उन्होंने की थीं। 'ऋषि' और 'ऋषभ' ये दोनों शब्द एक धातु से बने हैं। 'ऋषभ' याने जमीन को जोतनेवाला बैल और 'ऋषि' याने उस बैल के पीछे-पीछे चलनेवाला किसान। ऋषि लोग मानते थे कि हरएक के लिए खेती पर श्रम करना अनिवार्य है। वैदिक जमाने में उन्होंने समाज के पाँच विभाग बनाये थे। हर विभाग के मनुष्यों के अपने अलग-अलग धन्धे थे। लेकिन सबके लिए खेती पर श्रम करना आवश्यक माना जाता था। ऐसा माना जाता था कि हर आदमी अपना धन्धा करते हुए उसके साथ-साथ खेती का काम करेगा। इसलिए उन्हें 'पंच कृष्टि' याने पाँच किसान कहा गया है। फिर भी उस जमाने में उत्पादक शरीर ज्यादा परिश्रम पर बहुत जोर नहीं दिया जाता था और उसे व्रत का स्वरूप नहीं मिला था। कारण, उस समय आर्थिक तंगी नहीं थी। लेकिन अब अर्थशास्त्र का दबाव आ पड़ा है, इसलिए यह सोचा जा रहा है कि हरएक मनुष्य को उत्पादक श्रम में हिस्सा लेना चाहिए।

यहाँ हम शरीर-परिश्रम को तमोगुण के नियन्त्रण के लिए साधन के रूप में सोच रहे है। समाज से शरीर-परिश्रम की आवश्यकता है, इसलिए सहज ही स्वाभाविक तौर पर समाज उसका नियन्त्रण कर लेता है। दिनभर हम मेहनत करते हैं, तो अच्छी थकान और रात को गहरी नींद आती है। श्रम के निमित्त जीवन को व्यवस्थित करने का एक साधन भी मिल जाता है। उत्पादन के निमित्त शरीर-श्रम का साधन न होता, तो अधिकतर आध्यात्मिक दृष्टि लोग समझ न पाते। गहरे आध्यात्मिक

विचार कितने लोग समझ सकते हैं ? लेकिन श्रम के बिना चलता नहीं। इसलिए साधारण किसान सबेरे ही उठ जाता है और दिनभर श्रम करता है और फिर जल्दी सोता भी है। इस तरह किसानों को योगी जैसा ही व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। उसके लिए शरीर-श्रम एक जीवन-विषय है। इसलिए उसके जीवन में योग स्वाभाविक ही आ जाता है।

हमने सुझाया है कि देहात में काम करनेवाला हर कार्यकर्ता, चाहे उसका काम दफ्तर में ही क्यों न हो, रोज घण्टा, दो घण्टा शरीर-श्रम अवश्य ही करे। वैसे किसी विषय में अपने को भले ही बाँध न ले, परन्तु सहज ही कुछ-न-कुछ श्रम कर ले, जिससे शरीर से पसीना बह जाय। शरीर-श्रम के लिए बेकार व्यायाम करने के बदले उत्पादक श्रम किया जाय, तो वह लाभदायक होगा। इस प्रकार का श्रम, यदि वैसी प्रेरणा हो तो, ब्रह्मचर्य की साधना में भी मददगार होता है। खुली हवा में काम करने से बहुत मदद होती है। हमारी पदयात्रा में लोग कृपा की दृष्टि से फासला कम रखते हैं। मगर हम चाहते हैं कि फासला दस-बारह मील का रखा जाय, तो अधिक लाभदायक होगा। उससे चिंतन में मदद मिलेगी। पदयात्रा में शरीर से पसीना तो निकलना चाहिए। यह तमोगुण के लिए योजना हो गयी। अब रजोगुण के लिए क्या योजना है, यह देखें।

मन-इंद्रियों का वेग रोकना आवश्यक

रजोगुण के लिए सूत्र है—'वेगस्य शमनं स्वधर्मेण'। मनुष्य के मन तथा इन्द्रियों में वेग होता है, यह रजोगुण का परिणाम है। अगर इस वेग का शमन न हुआ, तो उसके परिणामस्वरूप मानसिक क्षोभ पैदा होता है। इसलिए मनुष्य इस वेग के शमन के लिए अनेक प्रकार के काम कर लेता है। मनुष्य के व्यसन और गलत आचरण भी इसी कारण होते हैं। इसलिए इंद्रियों के स्वाभाविक वेग का शमन होना जरूरी है।

दूसरा सूत्र है—'स्वाभाविकत्वात्' इन्द्रियों का वेग स्वाभाविक है, उसमें शिकायत करने का कोई कारण नहीं है। जैसे अच्छे घोड़े का लक्षण ही यह होता है कि वह जोर से दौड़ेगा, वैसे ही अच्छे मन का भी लक्षण यही है कि वह तेजी से दौड़ता है। घोड़े के दौड़ने में हम इतना ही चाहेंगे कि वह ठीक रास्ते पर दौड़े। वैसे ही मन के बारे में भी हम चाहेंगे कि वह ठीक रास्ते पर चले। इसी तरह शरीर तथा इन्द्रियों के वेग के बारे में हैं। उन्हें शान्त करने के लिए उनका शमन होना चाहिए। वह स्वधर्म से होता है। यदि हम स्वधर्मरूपी मार्ग का उपयोग करते हैं, तो एक राह मिल जाती है और इन्द्रियों के वेग का शमन सहज ही हो जाता है। वेग इन्द्रियों के लिए स्वाभाविक है। उसी तरह स्वधर्म भी मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। इसलिए 'स्वाभाविकत्वात्' सूत्र है।

स्वधर्म का अर्थ

स्वधर्म का अर्थ जरा समझ लेना चाहिए। हिन्दू, मुसलिम, ईसाई आदि स्वधर्म के नाते नहीं हैं। इनके लिए 'धर्म' शब्द एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त होता है। ये धर्म तो उपासना के प्रकार हैं। 'स्वधर्म' का अर्थ है, प्रत्येक मनुष्य का अपना स्वतन्त्र कर्तव्य। वैसा स्वधर्म याने अपना विशेष कर्तव्य, हर मनुष्य का अलग-अलग होता है। परन्तु मनुष्य समाज का अङ्ग है। इसलिए हम कहते हैं कि हर मनुष्य अपनी सेवा समाज को समर्पित करे। लेकिन हर मनुष्य की अपनी कुछ विशेषता होती है। उन विशेषताओं का समुचित विकास करके ही समाज को सेवा समर्पित करनी चाहिए।

मान लीजिये, किसीको चित्रकला का ज्ञान है। तो उसे उसको विकसित करना और उस काम को समाज की सेवा में लगाना चाहिए। कोई संगीतज्ञ है, तो उसे भक्त बनना और अपने कण्ठ की कला का उपयोग समाज के लिए करना चाहिए। समाज को अपनी सेवाएँ अर्पण करने से मनुष्य की विशेषताएँ खंडित नहीं, बल्कि सार्थक ही होती हैं। समाज को

विविध प्रकार की सेवाओं की जरूरत होती है और उनके लिए विविध शक्तियाँ चाहिए। इसलिए मनुष्यों की विविध प्रकार की शक्तियों को एक ही सांचे में ढालकर एक ही प्रकार की बनाने की कोई जरूरत नहीं। मेरे विशेष गुण, मेरा विशेष ज्ञान, मुझे प्राप्त हुई विशेष परिस्थिति के कारण मेरा जो धर्म या कर्तव्य बनता है, वही मेरा स्वधर्म है, इस तरह स्वधर्म स्वाभाविक होता है और उसका समर्पण समाज को होना चाहिए।

ध्यान से मन को बलात् न रोकें

कुछ लोग अपने मन तथा इन्द्रियों के वेग के शमन के लिए समाधि लगाने का, ध्यानादि करने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु वे शिकायत करते हैं कि ध्यान तो हम लगाते हैं, परन्तु मन दौड़ता रहता है। वे स्वयं उसके काबू में हो जाते हैं। इसमें मन का दोष नहीं। नाहक उसे न दौड़ने की आज्ञा क्यों दी जाय ? उसे दौड़ने के लिए ठीक राह बता देनी चाहिए। फिर उसे दौड़ने दो। जैसे ये आँखें हैं, इन्हें कहें कि यही देखो, दूसरी चीज मत देखो। कानों से कहें, यही सुनें, दूसरा कुछ न सुनें। इस तरह इन्द्रियों का उपयोग ठीक ढंग से होता है। वैसे ही मन को अगर ठीक राह मिले, तो उसका उपयोग लाभदायक होगा। मन को काबू में लाने के लिए ध्यान में बैठना गलत है। उसे हम जबर्दस्ती बेकार बैठाना चाहते हैं, इसलिए वह दौड़ता है। हम वैसा न करते, तो वह न दौड़ता। इसलिए उसे जबर्दस्ती बैठा रखने की कोशिश करना गलत है।

कुछ लोगों का विचार है कि ध्यान में बैठने से मन उन्नत होता और मनुष्य का विकास होता है। लेकिन यह खयाल गलत है। ध्यान भी एक शक्ति है। कुछ लोग कहते हैं कि चित्र खींचने में मन एकाग्र होता है। कुछ कहते हैं कि मन गणित में एकाग्र हो जाता है। चित्त दौड़ता है, इसका मतलब यही हुआ कि मन को बेकार बैठाने की कोशिश की जाती है, इसलिए वह बगावत करता है। अतः उसे जिस किसीमें रुचि हो, जैसे चित्र खींचने में, गणित में, संगीत या जिस विषय में वह

एकाग्र हो सके, उस जरूरी विषय के अध्ययन में उसे लगाना चाहिए। तभी वह शांत होगा। वैसे हम देखते हैं कि मन कई विषयों में, यहाँ तक कि खाने के काम में भी, तन्मय हो सकता है। अच्छी भूख लगी हो, तो भोजन मिलते ही उसमें मन बिलकुल एकाग्र हो जाता है। मन में विशेष क्षोभ न हो, तो उस वक्त चित्त इधर-उधर दौड़ता नहीं। यदि क्षोभ होता है, तो भोजन के लिए रुचि नहीं होती।

चित्त को आलम्बन आवश्यक

इसका अर्थ यह हुआ कि चित्त के लिए इस प्रकार का विषय दे दिया जाय, जिसमें उसका ध्यान लग सके। चित्त को निरालम्बन काम में क्यों लगाया जाय ? उसे आलम्बन का काम देना चाहिए। जो काम जरूरी है, वह क्यों नहीं देते ? एक ही बेकार काम देकर आसक्त लगाने से क्या मतलब है ? जब मनुष्य ने दिनभर सुन्दर काम किया हो, काम करते-करते थक गया हो, उस काम में उसका चित्त एकाग्र हुआ हो, चित्त पर कोई बोझ न हो, तो रात को बिस्तर पर पड़ते ही चित्त अपने-आप एकाग्र हो जाता है। उसे दौड़ने की इच्छा नहीं होती। ऐसी हालत में क्षणभर में ही नींद आ जाती है।

शास्त्र में कहा है :

'निद्रा समाधिः स्थितिः।' जो निष्काम कर्मयोग में लगा रहता है, उसकी निद्रा समाधि की ही स्थिति होती है। हाँ, वह निद्रा निःस्वप्न होनी चाहिए। उसमें अगर तरह-तरह के विचार आते हों, तो समझना चाहिए कि वह गलत है। तरह-तरह के स्वप्न देखते रहते हों, तो वह नींद नहीं, सोने का ढोंग होगा। इस वास्ते नींद निःस्वप्न ही आनी चाहिए। नींद निःस्वप्न नहीं होती है, इसके कई कारण हैं। इनमें से बाह्य कारणों को छोड़ दिया जाय, तो एक मानसिक कारण यह है कि नींद के समय चित्त जागता रहता है। वह क्यों जागता है ? इसलिए कि हमारी जाग्रति

के समय वह सोता है। इसी कारण हमारे सोने के समय वह जागने लगता है। बहुत-से लोग ऐसे ही हैं, जो मेरे खयाल में २४ घण्टे में २० घण्टे सोते ही रहते हैं। हम तो सचमुच जागते रहते हैं। परन्तु हमारा मन भी जाग्रत है क्या ? ऐसी जाग्रत मन की अवस्था कम ही रहती है। उसकी परिपूर्ण जाग्रति नहीं होती। इसलिए उसके प्रतिक्रियास्वरूप जब हम सोते हैं, तब वह जागने जैसा लगता है। होना तो यही चाहिए कि हमारे सोते समय वह न जागे और जाग्रति में वह कसकर जागे।

स्फूर्तिहीन जाग्रति से सोना अच्छा

कितने ही लोग दिन में न सोने का निश्चय करते हैं। लेकिन मैंने देखा है कि बैठे-बैठे ही वे सोने लगते हैं। एक भाई इस तरह दिन में न सोने की कोशिश करते थे। परिणाम यह होता था कि दिनभर सुस्ती रहती थी। उन्हें मैंने दिन में आधा घण्टा सोने की आदत डालने के लिए लिखा। उन्होंने वैसा किया और बाद में लिखा कि उससे उनकी उन्नति हुई। उनका चित्त बहुत ही प्रसन्न रहने लगा। अक्सर हमारी जाग्रति में जड़ता, सुस्ती होती है, चित्त जड़ बनता है। इसलिए काम ठीक तरह से बनता ही नहीं। ऐसी स्फूर्तिहीन जाग्रति से सोना अच्छा ही है।

अब मेरी आध्यात्मिक प्रगति हो रही है। क्योंकि इन दिनों मैं दिन में दो बार सोने लगा हूँ। आध्यात्मिक प्रगति सोने से किस तरह हो सकती है ? यह तो आश्चर्यकारक लगेगा। क्योंकि न सोने में या निद्रा को कम करने में ही आध्यात्मिक प्रगति मानी गयी है। लेकिन दिन में दो बार सोना लाभदायक ही हुआ है। वैसे तो मैं रात को सवा आठ बजे सो जाता हूँ और सुबह तीन बजे उठता हूँ। पहले मैं दिन में एक बार सोता था। अब सुबह पद-यात्रा के बाद स्नानादि समाप्त करके ४०-५० मिनट सो जाता हूँ। फिर दोपहर को भोजन के बाद आधा घण्टा सोता हूँ। इसका परिणाम यह देखता हूँ कि इससे मेरी परिपूर्ण

जाग्रति रहती है। रात को गहरी नींद के बाद सुबह उठते समय जिस परिपूर्ण जाग्रति का अनुभव आता है, कोई वजह नहीं कि वह दिनभर न रहे।

डॉक्टर जिउस ने लिखा है कि कुत्ता कभी लगातार १०-१२ घण्टे तक सोता नहीं। वह थोड़ी देर सोता है, फिर जागकर इधर-उधर घूमता-फिरता है, फिर सोता है। इस तरह उसका सोना और जागना चलता रहता है। इससे वह सतत उत्साही रहता है। तो हम भी वैसा क्यों न करें ? उसका थोड़ा-सा प्रयोग मैं अब कर रहा हूँ। देख रहा हूँ कि उससे बुद्धि बहुत जाग्रत रहती है। नये-नये विचार सूझते रहते हैं।

चित्त को सहज धर्म में लगायें

तात्पर्य यह है कि चित्त को सहज स्वधर्म में लगाना चाहिए। उसे नाहक रोकने की कोशिश करनी ठीक नहीं। वह खुद ही रुक जाय, तो ठीक ही है।

गीता में एक श्लोक आता है—

'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्'। मन को आत्मा के अधीन कर किसी भी विषय की चिन्ता न करनी चाहिए। श्रीधर-स्वामी ने इस पर भाष्य करते हुए लिखा है कि 'न किंचिदपि चिन्तयेत्'। याने आत्मा का भी ध्यान न करना चाहिए–'आत्मध्यानादपि निवर्तयेत्'। 'न किंचिदपि' से भी पर्याप्त स्पष्टीकरण नहीं होता, इसीलिए श्रीधरस्वामी को इतना लिखना पड़ा। शंकराचार्य ने तो इसे योग की परम विधि कहा है—'एष योगस्य परमो विधिः।' फिर भी चित्त को किसी काम में लगाने से ही वह एकाग्र हो पाता है।

लोग कहते हैं कि ध्यान लगाना चाहिए। परन्तु ध्यान लगाना क्यों ? वह तो लग जाना चाहिए। जब उसकी जरूरत होती है, तब मन अपने-आप ही बैठ जाता है। उसे जबरदस्ती रोकने की जरूरत नहीं होती। दिनभर स्वधर्माचरण के बाद दिन के अंत में आत्म-परीक्षण की जरूरत

तो होती ही है। उस समय उसके लिए हम बैठते हैं, तो चित्त स्वयं एकाग्र और शान्त हो जाता है। फिर वह दौड़ना चाहता ही नहीं। परन्तु जो स्वधर्माचरण नहीं करता, उसके लिए आत्म-परीक्षण की आवश्यकता का सवाल उठता ही नहीं। वह कितनी भी कोशिश करे, उसके चित्त का शमन हो नहीं सकता।

इस तरह चित्त के शमन की बड़ी भारी युक्ति 'वेगस्य शमनं स्वधर्मेण' और 'स्वाभाविकत्वात्', इन दो सूत्रों में बतायी गयी है।

कल्लुर, जिला-तुमकूर (मैसूर)

२-११-'५७

गुण-विकास की प्रक्रिया :
प्रमाद और अहंकार का निरसन : ७ :

घ्नन्ति प्रमादं अतंद्राः (सूत्र ७७)

तमोगुण के निरसन का सर्वोत्तम साधन पसीना बहाना ही है 'श्रम-संजात-वारिणा'। इसके परिणामस्वरूप रात को अच्छी नींद आयेगी। ऐसी नींद, जिसकी गिनती समाधि में हो सकती है। वही तमोगुण का सर्वोत्तम रूप है।

रजोगुण को भी हम टाल नहीं सकते। उसके आकर्षण से जीवन में वेग मिलता है। पर वेग में भी भय रहता है। इसलिए उसका भी शमन होना चाहिए। जैसे भाप नियंत्रित करने पर तो उससे शक्ति पैदा होती है, वैसे ही रजोगुण से भी शक्ति पैदा हो सकती है। भाप को खुला छोड़ने पर उससे कुछ नहीं बनता। वैसे ही रजोगुण के वेग

का शमन न होने पर उसे वैसे ही खुला छोड़ देते हैं, पर वह खतरा पैदा करता है। इसलिए वेग-शमन का सूत्र है—वेगस्य शमन स्वधर्मेण'। स्वधर्म में वेग का शमन होता है। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं को चाहिए कि वे अपने-आपको और अपनी इन्द्रियों को सेवा-कार्य में लगा दें, ताकि वेग का सही दिशा में उपयोग होकर उसका शमन हो सके। यह धर्म स्वाभाविक ही है। जैसे वेग स्वाभाविक होते हैं, वैसे ही ऐहिक और पारमार्थिक जीवन के लिए स्वधर्म भी स्वाभाविक होता है। इसलिए इसका दूसरा सूत्र है—

'स्वाभाविकत्वात्'।

स्वधर्म-पालन करने में रजोगुण के वेग का शमन तो होता है, परन्तु उससे प्रमाद भी हो जाता है। असावधानी के कारण उसका होना स्वाभाविक भी है। फिर भी उस प्रमाद से बचना चाहिए। इसके लिए मनुष्य को स्वतंत्र साधना करनी पड़ती है। उसके लिए हमने सूत्र बनाया है—

'घ्नन्ति प्रमादं अतंद्राः'। प्रमाद को बहुत साधना के साथ टालना होता है। उसके लिए मनुष्य को एक विशेष साधना करनी पड़ती है। रजोगुण का वेग शमन होने से बहुत बार तमोगुण का हमला हो जाता है। तब मनुष्य का मन ढीला पड़ जाता है, वह प्रमाद कर बैठता है। अनवधान से प्रमाद हो जाता है। इस तरह का प्रमाद अपने देश में बहुत होता है। कोई कुछ वादा करता है और उसे पूरा नहीं कर पाता, तो उसमें उसे कुछ कष्ट पहुंचता ही नहीं। दूसरे देश में शिष्टाचार के नाम से इस तरह का प्रमाद नहीं होता, लेकिन अपने देश में तो वह एक स्वाभाविक या सहज ही बन गया है। किसीने आपसे किसी तारीख को आने का वादा किया, लेकिन नहीं आ सका, तो उसमें उसे कुछ त्रुटि या अपराध लगता ही नहीं! अव्यवस्था; अनियमितता,

भूल जाना आदि जड़ता हममें आ गयी है कि उससे हमें कोई कष्ट ही नहीं पहुँचता। बिल्कुल निर्दोष भाव से कह देते हैं—'नहीं जा सका'। 'भूल गया, तो क्या हुआ ? सामान्य विस्मरण हो गया !'

प्रमाद—भयंकर शत्रु

परन्तु विस्मरण बहुत बड़ा अपराध है। वह जड़ता का लक्षण है। बुद्ध भगवान् ने कहा है—'अप्पमादो अमतं पदं पमादो मच्चुनो पदम्'। अप्रमाद अमृत का और प्रमाद मृत्यु का स्थान है। महाभारत में भी यही आया है। मेरा खयाल है, यह मन्त्र मूलतः महाभारत का है।

हमारे सर्वोदय-कार्यकर्ताओं के जीवन में भी बहुत कमी रह जाती है। प्रमाद के कारण हमारे जीवन में प्रगति नहीं होती। हम रुँध जाते हैं। धर्म और आध्यात्मिक साधना में तो प्रमाद मारक है ही, दैनंदिन साधारण व्यवहार, संसार के हरएक पहलू, व्यापार, व्यवहार और सेना में भी वह बड़ा हानिकारक होता है। वह तो हमारा सर्वांगीण शत्रु है। ऐसा कोई भी काम नहीं दीखता, जिसमें प्रमाद चल सके। खेलने में भी प्रमाद नहीं चल सकता। इसलिए साधक को 'यन्ति प्रमादं अतंद्रा' सूत्र का पूरा भान होना चाहिए। तंद्रारहित होकर प्रमाद को मिटा देना चाहिए।

भगवान् भी तंद्रा से बचते हैं

'तंद्रा' शब्द वेद का है। यह सूत्र ऋग्वेद के एक मन्त्र का एक अंश है। इस शब्द की उत्पत्ति कहाँ से हुई है, कहा नहीं जा सकता। भगवान् ने गीता में भी यही शब्द कहा है—

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन :
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥'
'यदि ह्यहं न वर्त्तेय जातु कर्मण्यतंद्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥'

—'मुझे तो कुछ करना ही नहीं है, फिर भी कार्य करता हूँ, तो अतंद्रित

होकर। क्योंकि यदि मैं खुद यह न करूँ, तो ये भी लोग नीति-भ्रष्ट, विचार-भ्रष्ट हो जायेंगे और सृष्टि का विनाश होगा। इसलिए लोगों की दृष्टि से अतंद्रित होकर मैं काम करता हूँ।' आखिर भगवान् को काम करके क्या प्राप्त करना था? मनुष्य को दो प्रेरणाएँ होती हैं, जिनके कारण वह काम करता है। एक है कर्तव्य-भावना, जो पारमार्थिक लब्धि के लिए होती है और दूसरी है—प्राप्तव्य-भावना, जो प्रापंचिक लब्धि के लिए होती है। लेकिन भगवान् को तो दो में से किसीकी भी प्राप्ति करनी थी नहीं। फिर भी उन्होंने कहा—'मैं अतंद्रित होकर काम करता हूँ।'

'निद्रा' और 'तंद्रा' में अन्तर है। आलस्ययुक्त निद्रा 'तंद्रा' है और स्वप्नरहित विश्रांति ही 'निद्रा' है। निद्रा में स्वप्न आ गया, तो उसमें मानसिक विश्रांति नहीं होती। स्वप्न आते हैं और उसमें ही ज्यादा समय बीत जाता है। यह हानिकारक है। निद्रा मर्यादा के अन्दर अच्छी हो सकती है। लेकिन वह स्वप्नरहित होनी चाहिए।

गांधीजी भी अतंद्रित कार्यकर्ता

भगवान् ने कहा—'मैं अतंद्रित होकर काम करता हूँ'। अक्सर ऐसी भावना रखकर काम करनेवाले लोग नहीं मिलते। पर हमारे यहाँ प्राचीन काल से लेकर आज तक ऐसे महात्मा होते रहे हैं, जिन्हें अपने लिए और पारमार्थिक दृष्टि से कुछ भी प्राप्त नहीं करना था, फिर भी वे काम करते थे। महात्माओं में मैं कृष्ण भगवान् का नाम लेता हूँ। महात्मा गांधी भी इसी प्रकार के आदर्श पुरुष थे। हर काम में वे प्रमाद-शून्य और अतंद्रित होकर लगे रहते थे। वे ऐसा मानते और कहते थे कि 'भले ही मुझे नहीं चाहिए मुझे जरूरत नहीं; परन्तु समाज को उसकी जरूरत है, इसलिए मुझे करना जरूरी है। अगर न करूँ, तो समाज गलत रास्ते पर जायगा।' ऐसा मानकर वे खुद काम करने लग जाते थे। उनमें कारुण्य-भावना थी। कारुण्ययुक्त और वात्सल्ययुक्त जो महात्मा होते हैं, वे ऐसा ही करते हैं।

प्रकट और अप्रकट कारुणिक महात्मा

इसके अलावा कुछ ज्ञानी होते हैं। तत्त्वज्ञान में वे आगे बढ़ते जाते हैं। उनमें करुणा छिपी रहती है। वे एकांत में ध्यान-धारणा करते हैं, लोगों की कोई चिन्ता नहीं करते। उसमें उन्हें तत्त्व-दर्शन होता है। फिर आगे उन्हें जो दर्शन होता है, उसके प्रचार में निकल पड़ते हैं। सूत्ररूप में वे उसे समाज के सामने रखते हैं। परन्तु महात्माजी वैसे नहीं थे। वे ज्ञानी तो थे ही, पर वे 'लेबोरेटरी' में प्रयोग करनेवाले महात्मा नहीं थे। जीवन के तत्त्व खोजने के लिए एकांत में जानेवाले महात्माओं का भी समाज पर बड़ा उपकार है ही। उनके प्रकट-ज्ञान से समाज को काफी लाभ होता है। इसमें करुणा छिपी रहती है। लेकिन करुणा से या वात्सल्य से जो परिणाम होता है, वह इससे भिन्न है। इसके अलावा दूसरे जो महात्मा होते हैं, उनमें ज्ञान छिपा रहता है। लेकिन प्रकट होता है, करुणा :

दूसरे प्रकार का उदाहरण हैं – महात्मा गांधी। करुणा और वात्सल्य से प्रेरित होकर जो महात्मा जीवन-तत्त्व या आत्मदर्शन करने का प्रयत्न करते गये, उनमें महात्मा गांधी हैं। कोई समझता था कि वे राजनीति का काम करते हैं। कोई कहता था कि वे तो आश्रम चलाते हैं। इस तरह साधारण से साधारण काम वे करते थे। हर कोई उन्हें अपना ही आदमी समझता था, क्योंकि साधारण लोगों से भी वे उन्हींकी भूमिका पर बात करते थे। किसीका पेट दर्द होता, तो गांधीजी उसके पास जाकर इलाज के बारे में पूछताछ करते थे। जैसे माँ ही बच्चे के पास पहुँचती हो। किसी पति की पत्नी के साथ पटती न हो, तो पति आकर उनसे मिलता और अपना किस्सा सुनाता। इसका नाहक उन पर भार पड़ता था, तो भी वे ऐसे महात्मा थे कि कुछ पर्वाह न करते थे। अपने सारे कामों में से समय निकालकर कहीं इलाज की बात में, तो कहीं घर-गृहस्थी की बात में लोगों को उचित सलाह देते थे। माँ की तरह वे सोचते थे, इसलिए लोग सीधे उनके

पास जाते थे। कभी-कभी मुझे भी ऐसे लोगों के साथ मुलाकात करनी पड़ती थी। मैं उनसे कहता—'गांधीजी के पास पहुँचनेवाले न हो, तो मैं बताऊँगा। उधर जानेवाले हो, तो फिर वहीं जाओ। उनका भी समय लोगे और हमारा भी।' बापू कितने ही गंभीर काम में क्यों न हों, वे इन कामों के लिए समय देते थे।

विचारपूर्वक सत्य के प्रयोगकर्ता

बापूजी में ज्ञान छिपा हुआ था और करुणा प्रकट रूप में थी। वे कहते—'मुझे सत्य का दर्शन नहीं हुआ है।' सत्य की खोज में ही वे हर काम करते और कहते कि 'मैं दर्शन से दूर हूँ। कोशिश कर रहा हूँ। सिर्फ कभी-कभी उसकी झाँकी मिल जाती है।' मैं मानता हूँ कि उनका कहना ठीक था। वे सही बोलते थे। फिर भी वे दर्शन के करीब पहुँच चुके थे। वे अपने हाथ से जरा भी प्रमाद न हो, इस खयाल से काम करतें थे। छोटी-से-छोटी चीज में भी उपेक्षा न हो, इसी विचार से वे काम करते थे। कभी-कभी वे ऐसे खतरनाक प्रयोग करते थे कि जिसका अनुकरण करने से मनुष्य गलत रास्ते पर जा सकता है। लोगों के पूछने पर वे जवाब देते—'मैं सत्य का प्रयोग करता हूँ। एक तरफ से इस तरह खतरनाक प्रयोगों से समाज को चकित करते थे, तो दूसरी तरफ से अपने जीवन में हर किसीके लिए जगह होने का भास भी करवाते थे। उनके जीवन में कहीं करुणा प्रकट होती थी, तो कहीं ज्ञान और कहीं सत्यनिष्ठा। महापुरुषों में कोई ज्ञान-प्रधान होते हैं, कोई करुणा-प्रधान। किसी-किसीमें ये दोनों बातें बीच-बीच में प्रकट होती हैं। गांधीजी इसी प्रकार की मिसाल हैं। स्त्री और पुरुष, दोनों को वे समान मानते थें और पूर्ण समत्व-बुद्धि से ही बर्ताव करते थे। पर कुछ लोगों को उनके समत्वयोग का परिचय नहीं होता था। वे स्वयं कुशल प्रयोगकर्ता थे। सत्याग्रह के जमाने में उनके चामत्कारिक प्रयोगों का हमें दर्शन हुआ। सोच-विचार

करके वे सत्य का प्रयोग पहले अपने पर और बाद में समाज में करते थे। इसीलिए वे प्रमाद को भगा सके थे।

रजोगुण में भी प्रमाद का खतरा

'यन्ति प्रमादं अतंद्राः' यह ऋग्वेद के गायत्री छंद का एक अंश ज्यों का त्यों सूत्र-रूप में यहाँ दिया गया है। 'यन्ति' 'यम्' धातु का रूप है। 'यम्' याने संयम करना, नियमन करना या भगाना। तमोगुण के बाद यह सूत्र आता है, लेकिन हमने रजोगुण के बाद इसे लिया है। क्योंकि स्वधर्माचरण से रजोगुण का वेग तो शांत होता है, पर उसमें भी प्रमाद हुआ करता है। तमोगुण में वेग नहीं होता, उसका एक प्रवाह होता है। इसलिए तमोगुण वेग को खण्डित करता है। यों तमोगुण का प्रभाव कैसे दूर कर सकते हैं, यह हम लोगों ने देखा।

इस प्रकार हमारे चार सूत्र हुए—'श्रम-संजात-वारिणा' और 'यन्ति प्रमादं अतंद्रा' ये दो सूत्र तमोगुण के लिए हैं और 'वेगस्य शमनं स्वधर्मेण' तथा 'स्वाभाविकत्वात्' ये दो सूत्र रजोगुण के लिए हैं। मूल सूत्र है – 'प्रकृतिः शोध्या'। प्रकृति का शोधन करने के लिए तीन गुणों का शोधन करना होता है। उनमें से दो गुण हमने देखे।

देह में विकृति

अब तीसरा गुण आता है सत्त्वगुण। यह बहुत बड़ा कीमती गुण माना जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तमोगुण और रजोगुण हेय माने जाते हैं। ये प्राकृतिक गुण हैं परन्तु मनुष्य के पास प्राकृतिक रूप में नहीं आते, विकृत रूप में ही आते हैं। हम पानी पीते हैं। हमारी देह में वह जाता है; तो उसका रक्त या मूत्र बनता है, याने वह शुद्ध रूप में नहीं रहता। वैसे ही वायु की हालत है। हम हवा लेते हैं। वह भी विकृत रूप लेती है। हम केले खाते हैं, परन्तु केले के रूप में नहीं रहते। जो कुछ भी हम प्राकृतिक रूप में लेते हैं, वह वैसा का वैसा ही

बाहर नहीं आता, विकृत होकर आता है। इसी तरह ये दोनों गुण प्राकृतिक गुणों के रूप में देह में नहीं रहते।

आध्यात्मिक दृष्टि से इन तीनों गुणों का अलग-अलग स्थान है। उनमें रजोगुण और तमोगुण को हेय मानना पड़ता है, क्योंकि उनका खिंचाव नीचे की तरफ रहता है। देह के अन्दर दाखिल होते हैं, तो वे विकृत रूप में रहते हैं। गीता में कहा है—'पुण्यो गंधः पृथिव्याम्'—'पृथ्वी में जो पुण्य गंध है, वह मैं हूँ'। शंकराचार्य भाष्य करते हैं—भौतिक सृष्टि में वस्तु मूलरूप में होती है। उसका वह स्वरूप शुद्ध होता है। पानी में शुद्ध रस है, पर मनुष्य जब उसे आत्मसात् करता है, तब वह विकृत हो जाता है। उसी तरह भौतिक सृष्टि में रजोगुण और तमोगुण शुद्ध रूप में हैं। लेकिन जब वे मनुष्य-देह में आते हैं, तो शुद्ध नहीं रहते। पञ्चमहाभूतों में जब तक गुण कायम हैं, तब तक ठीक हैं; क्योंकि शुद्ध हैं। परन्तु मनुष्य जब आत्मसात् करता है तो वे विकृत हो जाते हैं। देहगत तमोगुण टालने लायक है। परन्तु रजोगुण की बात जरा महत्त्व की है, क्योंकि उसका नियमन कठिन है।

सत्त्वगुण का लक्षण

सत्त्वगुण का लक्षण क्या है? सत्त्वगुण का लक्षण दोहरा है। एक लक्षण है ज्ञान, ज्ञान की जो शक्ति है, वह जड़ पदार्थ में नहीं दीखती। ज्ञान की प्रेरणा जड़ से होती है, पर साक्षात् ज्ञान-क्रिया कोई जड़ वस्तु करती होगी, यह समझना गलत है। चेतन के साथ वह क्रिया आती है। ज्ञान चेतन का गुण है, ऐसा भास होता है; लेकिन वह सत्त्वगुण का अंश है। ज्ञान गुणवाचक नहीं वह स्वरूप है। आत्मा को ज्ञान नहीं होता, वह स्वयं ज्ञानवान् है। इसलिए ज्ञानी को यह भास नहीं होता कि मैं ज्ञानी हूँ। अगर उसे वैसा भास हुआ, तो वह सत्त्वगुण का अहंकार माना जायगा। ज्ञानी को तो यह भास होना चाहिए कि मैं ज्ञान का संग्रह कर

रहा हूँ, ज्ञान-स्वरूप नहीं हूँ, दूसरों से मुझे बहुत कम ज्ञान है। जिन्हें लगता है कि मैं ज्ञानी हूँ, दूसरों को जो ज्ञान है, वह भी मुझे मालूम है, मैंने दूसरों से ज्यादा ज्ञान हासिल किया है, वे सचमुच ज्ञानी नहीं। सत्त्वगुण का अहंकार नहीं होता। यदि अहंकार हुआ, तो तमोगुण आ जाता है; बल्कि वह तमोगुण से भी बदतर है।

परन्तु सत्त्वगुण प्रकृति का ही अंश है। ज्ञान का भी बोझ होता है। जिस चीज का आत्मा पर बोझ होता है, वह ज्ञान नहीं। हम पढ़ते हैं, उससे थकान आती है। चिन्तन से ज्ञान-क्रिया में थकान होती है। अतः जिस चीज की थकान होती है, वह उसकी नहीं, यही मानना चाहिए। मनुष्य को अपने शरीर का बोझ मालूम नहीं होता। कोई बाहरी बोझ उसके सिर पर आ जाय, तो उसका बोझ उसे भाररूप होता है। बाहरी बोझ से थकान मालूम होती है। ज्ञान एक स्वाभाविक गुण है। पर जब वह भार हो जाय, तब वह अस्वाभाविक मानना चाहिए। याने वह तमोगुण हो जाता है।

ज्ञानी अहंकारी नहीं होता

ज्ञानी को अपने ज्ञान का भास नहीं होता। 'मैं ज्ञानी हूँ', ऐसा भास किसी को होता है, तो वह अज्ञानी ही है। उसी तरह बुद्धि की बात है। हर मनुष्य की बुद्धि सीमित होती है। कोई मनुष्य अपनी बुद्धि को दूसरों की बुद्धि से ज्यादा मानता है, तो वह तमोगुणी बुद्धि मानी जायगी। बुद्धि अपने में तमोगुणी नहीं। पानी को गरम करें, तो उसमें उष्णता दाखिल होगी। अग्नि का गुण उसमें दाखिल हो सकता है। पर कितना भी गरम करने से भी पानी अग्नि नहीं हो सकता। इसी तरह मनुष्य की हालत है। मनुष्य का स्वभाव कभी तमोगुणी, कभी रजोगुणी, तो कभी सत्त्वगुणी होता है। पर मनुष्य वह नहीं है। किसीमें सत्त्वगुण ज्यादा है, तो वह सत्त्वगुणी माना

जायगा। किसी में रजोगुण ज्यादा है, तो वह रजोगुणी होगा। परन्तु वह मनुष्य का पूर्ण स्वरूप नहीं है।

अपनी प्रकृति का परिवर्तन नहीं हो सकता। किसीका शरीर काला है। साबुन लगाने से वह सफेद नहीं हो सकेगा। हाँ, उसकी चमड़ी निकाल दी जाय, तो हो सकता है। पर कोई दाग लग गया हो, तो वह जरूर साफ हो सकता है। आत्मा पर किसी का जोर नहीं चलता, पर मन पर हमला होता रहता है। आत्मा पर हमला होता, तो वह दुरुस्त नहीं हो सकता। पर आत्मा किसी भी हालत में अपने ऊपर हमला नहीं होने देता। आत्मा सबसे अलग है। ज्ञान एक स्वाभाविक गुण है, इसलिए आत्मा ज्ञानीपन से भी अलग है। इसलिए ज्ञानी मनुष्य अहंकारी नहीं हो सकता। वह अपनी बुद्धि को दूसरों की बुद्धि का ही रूप मानता है। अपने में दूसरों की बुद्धि के अस्तित्व का भान करता होगा। इसलिए सच्चे ज्ञानी अत्यन्त नम्र होते हैं।

नम्रता ज्ञानी का स्वाभाविक गुण

गांधीजी ने कई व्रत बनाये। पर 'नम्रता' को उन्होंने व्रत नहीं माना। उसे वे स्वाभाविक गुण मानते थे। नम्रता की एक कहानी मैं आपको सुनाऊँगा। एकनाथ महाराज के शिष्य थे, दंडवतस्वामी। भागवत के वे बड़े भक्त थे। भागवत में एक जगह एक वाक्य आया है—'प्रणमेत् दंडवत् भूमौ आश्वचांडालगोखरम्'। याने कुत्ता, चांडाल, गाय, गधा जो भी मिले, उसके सामने दंडवत् प्रणाम करना चाहिए। यह पढ़कर दंडवतस्वामी ने अपना कार्यक्रम शुरू कर दिया। रास्ते में जहाँ कहीं जिस किसीको देखें, चाहे वह जड़ हो या चेतन, मनुष्य हो या गधा-घोड़ा, सभी को प्रणाम करना शुरू कर दिया। पहले तो लोग उन्हें पागल समझने लगे, पर कुछ दिनों बाद इसके आदी हो गये। वे भी स्वभावतः वैसा करते ही रहे, जिससे आगे चलकर लोग

उन्हें भगवद्-भक्त समझने लगे। उनको प्रणाम करने लगे। इतना ही नहीं, उनकी पूजा भी करने लगे। लोग इतनी पूजा करने लगे कि वे तंग आ गये। नम्रता के लिए उन्हें परेशान होना पड़ा।

आखिर वे एकनाथ के पास पहुँचे और सारी कहानी कह सुनायी। एकनाथ महाराज ने सारी कहानी सुन ली और कहा-- शास्त्र-वाक्यों का शब्दार्थ नहीं लिया जाता। उनका सार लेना होता है। उनका मानसिक अर्थ लेना चाहिए। उसे शारीरिक कार्यक्रम नहीं बनाना चाहिए। इसलिए अब इस जन्म में तू पूज्यभाव से बच नहीं सकता। मेरा सुझाव है, तू गंगा में (गोदावरी के किनारे रहते थे और उसीको गंगा कहते थे।) इस शरीर का विसर्जन कर दे।'

दंडवतस्वामी गंगा में कूद पड़े। वे तैरना जानते थे। तैरते-तैरते थक गये और डूबकर मर गये। सारांश, नम्रता एक स्थूल वस्तु नहीं हो सकती। वह एक स्वाभाविक गुण है। उसके लिए कोई कार्यक्रम बनाना नहीं पड़ता और न कार्यक्रम से वह बन ही सकती है।

नम्रता ज्ञानी का स्वाभाविक गुण है। वे पहचानते हैं कि गुण-दोष बुद्धि तक ही होते हैं और बुद्धि आत्मा से पृथक् है। ऐसा स्पष्ट होने के कारण ज्ञानी नम्र हो सकता है। इसलिए मनुष्य गुण-विकास के लिए सत्त्वगुण का आधार मानता है। अगर सत्त्वगुण का अहंकार होता है, तो मनुष्य आत्मस्वरूप से ही अलग होता है। इसलिए सत्त्वगुण को अहंकार से बचाना चाहिए।

मायसंद्रा, जिला—तुमकूर (मैसूर)

३-११-'५७

गुण-विकास की प्रक्रिया :
भक्ति से ही निस्तार : ८ :

सत्त्वस्य सत्त्वेन (सूत्र ८०)

भक्त्या एव तु निस्तारः (सूत्र ८१)

हमने देखा कि प्रकृति-शोधन की प्रक्रिया में तीनों गुण सामने खड़े होते हैं और उनका शोधन करना पड़ता है। तमोगुण के निरसन के लिए शरीर-परिश्रम तथा अप्रमाद-वृत्ति, ये दोनों साधन दीखते हैं। रजोगुण के लिए स्वधर्माचरण। सेवा-कार्य में अच्छी तरह देह, मन और बुद्धि सब साधनों के साथ लगा देनी चाहिए, जो सहज प्राप्त है और स्वाभाविक है।

सत्त्वगुण हमें ज्ञान की ओर ले जाता है, इसलिए वह तारक गुण है। पर आत्मा का स्वभावरूप जो ज्ञान है, वह एक चीज है और बुद्धि, जो ज्ञान की क्रिया है, वह दूसरी चीज। उसमें विद्वता, पांडित्य, विश्लेषणात्मक ज्ञान-विज्ञान, सृष्टि के ज्ञान आदि का समावेश होता है। ये सारे ज्ञान मनुष्य के लिए लाभदायी भी होते हैं, फिर भी मनुष्य को इन ज्ञान-क्रियाओं का भान होता है। यदि सतत ज्ञान-क्रिया करने की नौबत आती है, तो उससे बुद्धि को थकान आती है। इसलिए यह ज्ञान आत्मस्वरूप नहीं है।

सत्त्व का सत्त्व से शमन

जो ज्ञान आत्म-स्वरूप है, वह इससे भिन्न है। वह जीवन के लिए आवश्यक है। वह सत्त्वगुण द्वारा प्राप्त होता है। आत्मस्वरूप से भिन्न बुद्धि की क्रिया के रूप में जो ज्ञान मिलता है, उसके बोझ से कैसे

छुटकारा मिले, यही प्रश्न अब हमारे सामने है। उसका नियमन कैसे किया जाय ? इसके लिए सूत्र है—

'सत्त्वस्य सत्त्वेन' याने 'सत्त्वस्य शमनं सत्त्वेन'। यहाँ 'शमन' अध्याहृत है। अर्थात् सत्त्वगुण द्वारा ही सत्त्वगुण का शमन होता है। इसका अर्थ यही होता है कि हम सत्त्वगुण को बढ़ाते ही चले जायँ। नदी के प्रवाह का वेग कैसे शमन होता है ? बीच में बाँध डालकर रोकने से नहीं। उससे तो वह दूसरी दिशा में बह जायगी। उसे तो समुद्र तक जाने ही देना चाहिए। उत्कर्ष या प्राप्तव्य स्थान पर पहुँचने पर ही उसका बेग शांत होता है। इसी तरह जब सत्त्वगुण अपने उत्कर्ष तक पहुँच जाता और अपना प्राप्तव्य स्थान प्राप्त करता है, तभी उसका वेग शांत होता और वह भी शांत हो जाता है।

बच्चा जब पहले बोलने लगता है, तब उसे और उसके माँ-बाप को उसके बोलने का अभिमान होता है। पर बाद में जब बोलना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है, तब उसके बोलने की ओर किसीका ध्यान भी नहीं जाता। वैसे ही जब बच्चा चलने लगता है, तब सबको अच्छा लगता है। पर जब चलना उसके लिए स्वाभाविक हो जाता है तब वह बात नहीं रहती। इसी तरह जब सत्त्वगुण मनुष्य के लिए स्वाभाविक हो जाता है, तब उसे उसका भान भी नहीं होता और उसका वेग भी शांत हो जाता है। सूर्य को न तो अपने प्रकाश का और न अपने दातृत्व का ही भान होता है, क्योंकि प्रकाश देते रहना उसका स्वभाव है। नदी को अपने बहने का कोई अभिमान नहीं होता, कारण वह उसका स्वभाव ही है। वह उसके लिए कोई अभिमान का विषय नहीं। अपनी स्वभाव वस्तु के लिए किसीको अभिमान नहीं हो सकता। जो बाहर से प्राप्त गुण-स्वभाव होता है, उसके लिए अभिमान होता है।

गुण को स्वभाव में परिणत करें

सत्यनिष्ठ पुरुष सदा सत्य बोलता है। सत्य उसका स्वभाव ही बन जाता है। उसे एक क्षण के लिए यह भास नहीं होता कि वह सत्य बोलता है। हमने घड़ी को घड़ी कहा, तो कौन-सी बड़ी बात हुई? उसके लिए अभिमान क्यों करें? सत्य बोलना तो उसके लिए स्वाभाविक बात है। परन्तु सत्य बोलने में किसीको कुछ अभिमान होता हो, तो समझना चाहिए कि उसे सत्यनिष्ठा सधी नहीं है। उसने थोड़ा-सा सत्य बोलने का आरम्भ किया है, लेकिन अभी भी उसमें काफी मात्रा में असत्य पड़ा है। इसलिए उसे सत्य का आभास होता है और इसीलिए वह जितना भी सत्य बोलता है, उसके लिए उसे अभिमान होता है।

तो, जब तक कोई गुण गुण के रूप में रहता है और जब तक स्वभाव में परिणत नहीं होता, तब तक उसके लिए मनुष्य को अभिमान हो सकता है। तब तक वह गुण उसके विकास में, सब सृष्टि के साथ एकरूप होने में बाधक हो सकता है। परन्तु जब गुण स्वभाव में परिणत हो जाता है, तब सारी सृष्टि के साथ, सारी दुनिया के साथ एकरूप होने में वह बाधक नहीं होता। फिर उस मनुष्य को समाज से, दुनिया से अलग रहने की इच्छा भी नहीं होती। मनुष्य को यह लगता है कि समाज में रहेंगे, दुनिया के साथ संबंध रखेंगे, तो शायद मेरा वैराग्य ढीला पड़ जायगा, शायद मुझमें क्रोध का उदय होगा, मेरी सत्यनिष्ठा ढीली पड़ जायगी। किंतु इस तरह मन में यह 'शायद' होने का मतलब है, साधना में कुछ कच्चापन, इसके कारण यह भय उत्पन्न हो रहा है। परन्तु जब वह प्रेम, कारुण्य, सत्यनिष्ठा अपना स्वभाव ही हो जाती है, तब सारी दुनिया से, समाज से एकरूप होने में किसी प्रकार की तकलीफ नहीं और न किसी प्रकार की बाधा ही होती है। इसलिए सत्त्वगुण के लिए यही उपाय है कि उसे बढ़ाते चले जाओ।

ब्रह्माण्ड और सत्त्ववृद्धि

सवाल उठता है कि सत्वगुण बढ़ाने में आगे कुछ तकलीफ पेश आती है। तो फिर कैसा किया जाय ? इसका उत्तर आगे के सूत्र में है —

भक्त्या एव तु निस्तारः'। भक्ति से ही निस्तार है। उससे मदद मिलती है, क्योंकि अपने प्रयत्न की भी एक सीमा है। उसके बाद कहीं से मदद मिलनी चाहिए और वह मिलती ही है। वह सृष्टि से मिलती है।

मान लीजिये कि किसी मनुष्य के फेफड़े ठीक काम नहीं कर रहे हों, तो उसके लिए क्या उपाय करते हैं ? कोई क्षय-रोगी है, उसे स्वच्छ हवा मिलनी चाहिए। हम उसे किसी ऊँची जगह ले जाते हैं, क्योंकि वहाँ उसे स्वच्छ हवा मिलेगी। जिसके फेफड़े अच्छे होंगे, वह तो यहीं कमरे से भी अच्छी हवा खींच सकेगा। परन्तु उस बीमारी के लिए खुली हवा ही चाहिए, क्योंकि हवा खींचने की उसकी शक्ति क्षीण हुई है। इस तरह उसके फेफड़ों को बाहर की मदद दी जाती है। यह मदद साधारण मनुष्य के लिए अनावश्यक है। हमारे इस शरीर में किसी शक्ति की भी कमी हो, तो उसकी पूर्ति सृष्टि की ओर से होती है। यह एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है।

यदि किसीकी आँखें क्षीण होती हों, तो सूर्य-किरणों की मदद से वे दुरुस्त हो सकती हैं। सूर्य की किरणें पर्वतों पर पड़ती हैं, घास पर पड़ती हैं। और वहाँ से जिसे 'परावृत्त किरणें' कहते हैं, वे हमारी आँखों में पहुँचती हैं, तो उससे आँखें सुधर जाती हैं। इस तरह आँखों की जो शक्ति कम हुई थी, वह हमने बाहर से हासिल की। यह बिंब-प्रतिबिंब न्याय के अनुसार होता है। हमारे शरीर में जो तत्व या शक्ति है, वह सारे ब्रह्माण्ड में भी है। यदि शरीर में उसकी कमी होती है, तो बाहर से भी पूर्ति हो सकती है। हमारे शरीर में रक्त है, तो सृष्टि में पानी है। हमें आँखें हैं, तो बाहर उसका तत्त्व सूर्य में है। हमारे अन्दर प्राण है, तो बाहर वायु है। हमारे रक्त में लोहा है, तो बाहर सृष्टि में भी वह

रहता है। रक्त में लोहे का अंश कम होने पर डॉक्टर लोहा खाने के लिए कहते हैं—याने जिस चीज में लोहे का अंश हो, ऐसी तरकारी या गुड़ खाने के लिए कहते हैं। इस प्रकार बाहर से मदद मिलने की प्रक्रिया को हम तत्त्वज्ञान की भाषा में 'अनुग्रह' कहते हैं। हमारी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हम पर ब्रह्माण्ड-शक्ति का अनुग्रह होता है। ऐसी कोई शक्ति बाहर अवश्य है, जिसकी मदद आध्यात्मिकता के क्षेत्र में जरूरत पड़ने पर हमें मिल सकती है।

अपने को पहचानना आवश्यक

इसके लिए अपने-आपको अपनी देह से अलग करके पहचानने की जरूरत होती है। हमारे देह में हम कौन हैं? इस शरीर में कोई अलग चेतन वस्तु है, मैं स्पष्टतः अपने शरीर से भिन्न हूँ। मेरा शरीर ही बीमार होता है, फिर वह दुरुस्त भी होता है। यदि मेरा एक हाथ या दूसरा कोई अवयव कट जाय, तो मेरे 'मेरेपन' में कोई कमी नहीं होती। मेरा हाथ या आँख मैं नहीं। इसलिए मेरा वोट का अधिकार छीन नहीं लिया जाता। बुद्धि की भी ऐसी ही बात है। मेरी स्मरण-शक्ति आजकल काम नहीं करती। ज्यादा चिंतन करता हूँ, तो थकान आती है। इसलिए मैं किसी डॉक्टर से जाकर शिकायत करता हूँ। तो मेरी स्मरण-शक्ति या बुद्धि की इस न्यूनता को जो पहचानता है, वह कौन है? स्पष्ट ही है कि वह कोई मेरी बुद्धि से भिन्न वस्तु है।

मेरा चरखा बिगड़ जाता है तो उसे दुरुस्त करने के लिए मैं बढ़ई के पास ले जाता हूँ। लेकिन उस चरखे से वह बढ़ई और मैं भिन्न हूँ। वैसे ही वह डॉक्टर ओर मैं दोनों ही मेरी बुद्धि से भिन्न हैं। मेरी बुद्धि से जितना वह डॉक्टर अलग है, उतना ही अलग मैं हूँ। हम दोनों मिलकर उस बुद्धि को सुधारने की तरकीब निकालना चाहते हैं। मनुष्य की बुद्धि क्षीण होती है, पर मनुष्य क्षीण नहीं होता, वह अक्षीण ही बना

रहता है। इसीलिए वह बुद्धि को सुधारने के निमित्त बाहर से मदद माँग सकता है। इस प्रकार मैं इस देह और बुद्धि से भिन्न हूँ।

इसी प्रकार से सारी दुनिया में भी इस भौतिक सृष्टि से भिन्न एक परमात्मा, परम शक्ति है। उसे कोई भी नाम दीजिये। उस शक्ति का अनुग्रह हमें मिल सकता है। सत्त्वगुण के उद्भव में उसकी मदद मिल सकती है। सत्त्वगुण का उत्कर्ष करते हुए बीच में उसका अभिमान न हो, अहंकार आरूढ़ न हो, इसलिए भी उसकी मदद माँगी जा सकती है।

सत्त्वगुण तारक गुण है, परन्तु उसके अपनाने से ही यदि दोष पैदा होते हों, तो उन दोषों का वह स्वयं सुधार नहीं कर सकता। फिर उसका उत्कर्ष होकर वह अपने स्वभाव में परिणत होने तक जो बीच की हालत है, उस समय होनेवाले तमोगुण और रजोगुण के हमले से मनुष्य को कौन बचायेगा? यहाँ उसका रास्ता है—'भक्त्यैव तु निस्तारः'। इसलिए गुण-विकास के लिए भक्ति का सहारा आवश्यक है। उस गुण-विकास की प्रक्रिया का अंत भी भक्ति में करना पड़ता है। यह एक विशेषता आध्यात्मिक और पारमार्थिक साधना में है।

बलवती बुद्धि की मदद लेना बुद्धिमानी

हम प्रायः अपनी स्वतंत्र बुद्धि से निर्णय करने की बात करते हैं। बहुत बार कहते हैं, हम अपनी बुद्धि का निर्णय मानेंगे। यह क्या चीज है? अपनी बुद्धि का अर्थ क्या है? बुद्धि-प्रामाण्यवादी कहते हैं कि बुद्धि के द्वारा निर्णय हो। यहाँ तक तो ठीक है। निर्णय बुद्धि से तो होना ही चाहिए, लेकिन जो यह मानते हैं कि निर्णय अपनी बुद्धि से ही हो, वे अपनी बुद्धि का ही प्रामाण्य मानते हैं। उनका यह विचार बुद्धि-प्रामाण्यवाद नहीं। मैं मानता हूँ कि मेरा हाथ कमजोर है, इस-लिए कई काम मैं अपने हाथ से नहीं कर सकता। अतः दूसरों के मज-बूत हाथों से वह काम करवा लेता हूँ। यदि मैं ही काम करता रहूँ,

हाथ टूट जाय, तो भी पर्वाह न करूँ, तो इसमें अक्लमंदी नहीं है। वैसे ही यदि मैं जानता हूँ कि मेरी बुद्धि कमजोर है और दूसरे की बुद्धि बलवान् है, फिर भी मैं अपनी ही बुद्धि से निर्णय करूँ, तो यह मूर्खता है। जहाँ अपनी बुद्धि कमजोर है, वहाँ अधिक बलवान् बुद्धि की मदद लेना मूर्खता का लक्षण नहीं, वह अक्ल की ही प्रक्रिया है।

बुद्धि का उपयोग न करना आलस्य

बुद्धि-प्रामाण्यवादी बुद्धि से ही निर्णय करने पर मानता है, लेकिन स्वबुद्धि सदा प्रमाण नहीं होती। यदि वह केवल अपनी बुद्धि को प्रमाण मानेगा, तो उसके बल से उसकी प्रगति तो होगी, किन्तु आगे उसमें बाधा आयेगी। जहाँ उसकी अपनी बुद्धि की सीमा आयेगी, वहाँ आकर उसकी प्रगति रुक जायगी। लेकिन अपनी बुद्धि की जहाँ तक पहुँच है, उसके अन्दर उसे उपयोग में न लाना भी गलत होगा। अपने कमजोर हाथ से मैं भारी काम नहीं कर सकता, पर एक लोटा उठा सकता हूँ। तो यदि मैं लोटा उठाना भी टालूँगा, उसके लिए भी दूसरे पर निर्भर रहूँगा, तो वह आलस्य का लक्षण होगा। इसलिए अपनी बुद्धि की पहुँच के अन्दर उससे पूरा काम लेना चाहिए। लेकिन जहाँ उसकी पहुँच न होती हो, ज्यादा भार आता हो, वहाँ अपनी बुद्धि से अधिक बलवान् बुद्धि की मदद लेने में कोई दोष नहीं।

हर बुद्धि का उपयोग करना हमारा कर्तव्य है। इसीलिए हम सज्जनों का मार्गदर्शन लेते हैं। परस्पर विचार-विनिमय भी करना पड़ता है। कुरान में एक वाक्य है कि इसलाम के अनुयायी भक्तगण परस्पर सलाह-मशविरे से तय करते हैं। कुरान ने तो इसमें भक्त-लक्षण माना है। परस्पर सलाह-मश्विरा करना, यह बुद्धि का ही लक्षण है।

परन्तु दूसरों की बुद्धि भी कम पड़े, तो क्या होगा? तो मानना होगा कि दुनिया में कोई एक परम शक्ति है, जिसे हम 'परमेश्वर' कहते

हैं, उसका आधार मिलता है। यह काल्पनिक नहीं, प्रत्यक्ष अनुभव की वस्तु है। अपनी बुद्धि जहाँ कम पड़ती है, हम किसीको गुरु मानकर उनकी बुद्धि की मदद ले सकते हैं। फिर भी कम पड़े, तो परमेश्वर का आश्रय ले सकते हैं। वहाँ तो बैंक है। हमारी पूँजी रखी हुई है। वह उसका ट्रस्टी होकर बैठा है। माँगते ही वह हमें दे देता है। वह तो हमारा ही बैंक है। आपका पैसा कुछ ट्रंक में है और कुछ बैंक में। ट्रंक का पैसा खतम होने से माँगने पर बैंक का पैसा मिल सकता है; वैसे ही आपकी बुद्धि ही वहाँ भरी है, लेकिन हम माँगते ही नहीं। बल्कि जानते भी नहीं कि कैसे माँगा जाता है। लेकिन वहाँ वह रखी है। उसीके सहारे निस्तार होता है।

भक्ति की सर्वत्र जरूरत

यहाँ भक्ति की आवश्यकता होती है। गुण-विकास में भक्ति की आवश्यकता पड़ती है। ज्ञान में भी उसीकी जरूरत होती है। रजोगुण तथा तमोगुण के हमलों से बचने के लिए भी भक्ति का सहारा लेना चाहिए। हर जगह उसकी जरूरत है। हमारी बुद्धि एक हद तक चलती है। मगर एक ऐसा बिन्दु होता है, जिसके बाद उससे काम नहीं चलता। उसकी शक्ति कम पड़ती है। उसकी 'सप्लाई' की योजना विश्व में मौजूद है। जो माँगकर ले सकेगा, उसे मिलेगी। जो माँगना जानता नहीं, उसे नहीं मिलेगी।

मैं सोचता हूँ तो लगता है, लोग नाहक भक्ति को इस किनारे ले आते हैं। दरअसल वह तो उस किनारे की चीज है। इस किनारे तो प्रयत्नवाद का ही काम है। जहाँ तक अपनी बुद्धि चलती है, वहाँ तक तो प्रयत्न करते ही रहना है। लेकिन लोग गलत प्रकार से भक्ति करते हैं। अपनी प्रयत्न की शक्ति पूरी लगाये बिना वहाँ से माँग करते हैं। भगवान् ने जो पैसा दिया है, वह खर्च किये बिना--हमारे ट्रंक में जो पैसे

हैं, उनका उपयोग किये बिना—यदि हम बैंक से नये पैसे मांगे, तो वे कहाँ से मिलेंगे? भक्ति तो वास्तव में वहीं आती है, जहाँ हमारे सारे प्रयत्न टूट जाते हैं। पर हिन्दुस्तान में ऐसी ही भक्ति चलती है। इस आलसी भक्ति से कैसे काम होगा? यह तो एक तरह से ईश्वरदत्त शक्ति की अवहेलना करना है। उस शक्ति की अवहेलना कर यदि हम आलस-भक्ति से काम लेना चाहें, तो उससे काम नहीं बनेगा।

भगवान् भी परेशान

आज भारत में भक्ति के जितने प्रकार चलते हैं, वे कुल-के-कुल गलत हैं। सबमें कुछ-न-कुछ कमियाँ रह गयी हैं। सच्ची भक्ति का अधिकार यदि किसीको है, तो उन्हें ही है, जो प्रयत्नशील हैं। जो आलसी हैं, उनकी भक्ति देख भक्ति के असली प्रकारों से ही लोग घृणा करने लगते हैं। ऐसी स्थिति में ईश्वर को बड़ी मुश्किल हो जाती है। जिन लोगों को भक्ति का अधिकार नहीं, वे ही ईश्वर का नाम लेते हैं और जिन्हें माँगने का अधिकार है, वे उससे माँगते ही नहीं। इसलिए बेचारा ईश्वर बहुत ही परेशान है, बेजार हो रहा है। वह समझ ही नहीं पाता कि इस हालत में क्या करना चाहिए।

तुरवैकेर, जिला--तुमकूर (मैसूर)

४-११-'५७

•

ब्रह्म सत्यं जगत्स्फूर्तिः।
जीवनं सत्यशोधनम्॥

•

आज मनुष्य के जीवन पर मन की सत्ता चलती है। वह कहता है कि मैं स्वतंत्र हूँ, किसीका आदेश क्यों मानूं? पर निरंतर मन का आदेश मानकर चलता है। नाम है—इच्छा-स्वातंत्र्य, पर उसका अर्थ है मानसिक गुलामी, अपने मन की गुलामी। अपने कमजोर मन की बात मानने का आग्रह रखना और दूसरे की मजबूत अक्ल को न मानना मूर्खता है। इच्छा-स्वातंत्र्य तब होता है, जब इच्छा मिटती है। यह ऐसा अजीब इच्छा-स्वातंत्र्य है कि इच्छा मिटते ही स्वातंत्र्य हाथ लग जाता है। फिर अपने पर किसीका शासन नहीं चलता। न कोई सामाजिक शासन चलता है, न मनुष्य आदि का शासन, न वासना का और न किसी जीव का। तब पूर्ण शासन-मुक्ति होती है।

—विनोबा

